Visit **Dwarkadheeshvastu.com** For

FREE Vastu Consultancy, Music, Epics, Devotional Videos
Educational Books, Educational Videos, Wallpapers

****

All Music is also available in CD format. CD Cover can also be print with your Firm Name

****

We also provide this whole Music and Data in PENDRIVE and EXTERNAL HARD DISK.

Contact : Ankit Mishra (+91-8010381364, dwarkadheeshvastu@gmail.com)

AAJhgfj%AA

iR;{k Hkxor n'ku dmik;

¼HkfDr ;kx dk rRo&Hkkx&1½

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय	..... १
२-मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके गुण और चरित्र	..... ७
३-श्रद्धा-विश्वास, मिलनकी तीव्र इच्छा और निर्भरता	..... ४१
४-ईश्वर-साक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि साधन है	..... ५१
५-सत्सङ्ग और भगवद्भक्तोंके लक्षण, उनकी महिमा, प्रभाव और उदाहरण	..... ६७
६-भगवान्‌के दर्शन प्रत्यक्ष हो सकते हैं	..... ८६
७-जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्यायसे उत्तरोत्तर उन्नतिका दर्शन	..... ९१
८-भगवान् श्रीकृष्णका प्रभाव	.....१०९
९-नाम-रूप-लीला-धाम	.....१२२
१०-पतन या उत्थानमें मनुष्य स्वतन्त्र है	.....१४८
११-भक्त बननेका सरल साधन	.....१५८
१२-भगवत्कृपा	.....१८४
१३-शरणागतिका स्वरूप और फल	.....१९५
१४-अनन्यभक्तिका स्वरूप और रहस्य	.....२०८

——::×::——

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय

आनन्दमय भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन होनेके लिये सर्वोत्तम उपाय 'सच्चा प्रेम' है। वह प्रेम किस प्रकार होना चाहिये और कैसे प्रेमसे भगवान् प्रकट होकर प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं ? इस विषयमें आपकी सेवामें कुछ निवेदन किया जाता है।

अनेक विघ्न उपस्थित होनेपर भी ध्रुवकी तरह भगवान्‌के ध्यानमें अचल रहनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

भक्त प्रह्लादकी तरह राम-नामपर आनन्दपूर्वक सब प्रकारके कष्ट सहन करनेके लिये एवं तीक्ष्ण तलवारकी धारसे मस्तक कटानेके लिये सर्वदा प्रस्तुत रहनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

श्रीलक्ष्मणकी तरह कामिनी-काञ्चनको त्यागकर भगवान्‌के लिये वन-गमन करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

ऋषिकुमार सुतीक्ष्णकी तरह प्रेमोन्मत्त होकर विचरनेसे भगवान् मिल सकते हैं।

श्रीरामके शुभागमनके समाचारसे सुतीक्ष्णकी कैसी विलक्षण स्थिति होती है, इसका वर्णन श्रीतुलसीदासजीने बड़े ही प्रभावशाली शब्दोंमें किया है। भगवान् शिवजी उमासे कहते हैं—

होइहैं सुफल आजु मम लोचन।
देखि बदन पंकज भव मोचन॥
निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी।
कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा।
को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई।
कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥

अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई।
प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई॥
अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा।
प्रगटे हृदयँ हरन भव भीरा॥
मुनि मग माझ अचल होइ बैसा।
पुलक सरीर पनस फल जैसा॥
तब रघुनाथ निकट चलि आए।
देखि दसा निज जन मन भाए॥

(रा० च० मा०, अरण्य० ९। ५—८)

राम सुसाहेब संत प्रिय सेवक दुख दारिद दवन।
मुनि सन प्रभु कह आइ उठु उठु द्विज मम प्रान सम॥

श्रीहनुमान्‌जीकी तरह प्रेममें विह्वल होकर अतिश्रद्धासे भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

कुमार भरतकी तरह राम-दर्शनके लिये प्रेममें विह्वल होनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं। चौदह सालकी अवधि पूरी होनेके समय प्रेममूर्ति भरतजीकी कैसी विलक्षण दशा थी, इसका वर्णन श्रीतुलसीदासजीने बहुत अच्छा किया है—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा।
समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ।
जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी।
राम पदारबिंदु अनुरागी॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा।

ताते नाथ संग नहिं लीन्हा ॥
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी ।
नहिं निस्तार कलप सत कोरी ॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ ।
दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई ।
मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई ॥
बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना ।
अधम कवन जग मोहि समाना ॥
राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत ।
बिप्र रूप धरि पवन सुत आइ गयउ जनु पोत ॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात ।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात ॥

(रा० च० मा०, उत्तर० १ क-ख)

भक्त हनुमान्‌के साथ भरतजीका वार्तालाप होनेके अनन्तर श्रीरामचन्द्रजीसे भरतके मिलाप होनेके समयका वर्णन इस प्रकार है। शिवजी महाराज देवी पार्वतीसे कहते हैं—

राजीव लोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी ।
अति प्रेम हृदयँ लगाइ अनुजहि मिले प्रभु त्रिभुअन धनी ॥
प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहिं जाति नहिं उपमा कही ।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही ॥
बूझत कृपानिधि कुसल भरतहि बचन बेगि न आवई ।
सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई ॥
अब कुसल कौसलनाथ आरत जानि जन दरसन दियो ।

बूड़त बिरह बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो ॥

(रा० च० मा० उत्तर० ४ छन्द)

मान-प्रतिष्ठाको त्यागकर श्रीअक्रूरजीकी तरह भगवान्‌के चरण-कमलोंसे चिह्नित रजमें लोटनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

पदानि तस्याखिललोकपालकिरीटजुष्टामलपादरेणोः ।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः ॥
तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः ।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति ॥
देहंभृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं शुचम् ।
सन्देशाद्यो हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभिः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३८ । २५—२७)

जिनके चरणोंकी परम पावन रजको सम्पूर्ण लोकपालजन आदरपूर्वक मस्तकपर चढ़ाते हैं, ऐसे पृथ्वीके आभूषणरूप पद्म, यव, अङ्कुशादि अपूर्व रेखाओंसे अङ्कित श्रीकृष्णके चरणचिह्नोंको गोकुलमें प्रवेश करते समय अक्रूरजीने देखा।

उनको देखते ही आह्लादसे व्याकुलता बढ़ गयी, प्रेमसे शरीरमें रोमाञ्च हो आये, नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगे। अहो ! यह प्रभुके चरणोंकी धूलि है, ऐसे कहते हुए रथसे उतरकर अक्रूरजी वहाँ लोटने लगे।

देहधारियोंका यही एक प्रयोजन है कि गुरुके उपदेशानुसार निर्दम्भ, निर्भय और विगतशोक होकर भगवान्‌की मनोमोहिनी मूर्तिका दर्शन और उनके गुणोंका श्रवणादि करके अक्रूरकी भाँति हरिकी भक्ति करें।

गोपियोंके प्रेमको देखकर ज्ञान और योगके अभिमानको त्यागनेवाले उद्धवकी तरह प्रेममें विह्वल होनेपर भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

एक पलको प्रलयके समान बितानेवाली रुक्मिणीके सदृश श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये हार्दिक विलाप करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

महात्माओंकी आज्ञामें तत्पर हुए राजा मयूरध्वजकी तरह मौका पड़नेपर अपने पुत्रका मस्तक चीरनेमें भी नहीं हिचकनेवाले प्रेमी भक्तको भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

श्रीनरसी मेहताकी तरह लज्जा, मान, बड़ाई और भयको छोड़कर भगवान्‌के गुण-गानमें मग्न होकर विचरनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

'बी० ए०', 'एम्० ए०', 'आचार्य' आदि परीक्षाओंकी जगह भक्त प्रह्लादकी तरह नवधा भक्तिकी * सच्ची परीक्षा देनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

भगवान् केवल दर्शन ही नहीं देते, वरं द्रौपदी, गजेन्द्र, शबरी, विदुरादिकी तरह प्रेमपूर्वक अर्पण की हुई वस्तुओंको वे स्वयं प्रकट होकर खा सकते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९। २६)

---

* श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।

अतएव सबको चाहिये कि परम प्रेम और उत्कण्ठाके साथ भगवद्दर्शनके लिये व्याकुल हों।

——::×::——

'भगवान् विष्णुके नाम, रूप, गुण और प्रभावादिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भगवान्‌की चरणसेवा, पूजन और वन्दन एवं भगवान्‌में दासभाव, सखाभाव और अपनेको उनके समर्पण कर देना—यह नौ प्रकारकी भक्ति है।'

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके गुण और चरित्र

जिन मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके नाम, रूप, गुण, लीला, प्रेम और प्रभावकी अमृतमयी कथाओंका श्रवण, पठन और मनन ही परम कल्याण करनेवाला है, उन प्रभुके स्वरूपको लक्ष्यमें रखकर, उनके गुण और चरित्रोंको सर्वथा आदर्श मानकर और उनके वचनोंको परमधर्म समझकर जो मनुष्य तदनुसार आचरण करता है उसकी तो बात ही क्या है ! ऐसे पुरुषके दर्शन, स्पर्श, भाषण आदिका सौभाग्य जिस मनुष्यको प्राप्त है, वह भी अत्यन्त धन्य है।

कुछ भाई कहा करते हैं कि हम भगवान्‌के नामका जप बहुत दिनोंसे करते हैं, परन्तु जितना लाभ बतलाया जाता है, उतना हमें नहीं हुआ। इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌के नामकी महिमा तो इतनी अपार है कि उसका जितना गान किया जाय उतना ही थोड़ा है। नाम-जप करनेवालोंको लाभ नहीं दीखता, इसमें प्रधान कारण है दस नामापराधोंको छोड़कर जप न करना। दस* अपराधोंका त्याग करके जप करनेपर नाम-जपका शास्त्रवर्णित फल अवश्य प्राप्त हो सकता है। इन अपराधोंको सर्वथा त्यागकर नाम-जप करनेवालेको प्रत्यक्ष महान्

---

*१. सत्पुरुषोंकी निन्दा, २. अश्रद्धालुओंमें नाम-महिमा कहना, ३. विष्णु और शङ्करमें भेदबुद्धि, ४. वेदोंमें अश्रद्धा, ५. शास्त्रोंमें अश्रद्धा, ६. गुरुमें अश्रद्धा ७. नाम-माहात्म्यमें अर्थवादकी कल्पना, ८. शास्त्रनिषिद्ध कर्मका आचरण, ९. नामके बलपर शास्त्रविहित कर्मका त्याग तथा १०. अन्य धर्मोंसे नामकी तुलना। ये दस नामापराध हैं।

फल प्राप्त होनेमें तो सन्देह ही क्या है; केवल श्रद्धा और प्रेम—इन दो बातोंपर ध्यान रखकर जो अर्थसहित नामका जप करता है, उसे भी प्रत्यक्ष परमानन्दकी प्राप्ति बहुत शीघ्र हो सकती है। नाम-जपके साथ-साथ परमात्माके अमृतमय स्वरूपका ध्यान होते रहनेसे क्षण-क्षणमें उनके दिव्य गुण और प्रभावोंकी स्मृति होती है और वह स्मृति अपूर्व प्रेम और आनन्दको उत्पन्न करती है। यदि यह कहा जाय कि रामचरितमानसमें नाम-महिमामें यह कहा गया है—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

(रा० च० मा०, बाल०, २७। १)

—फिर श्रद्धासहित नाम जपनेसे ही फल हो, ऐसे ही जपनेसे फल न हो, यह बात कैसे हो सकती है? तो इसका उत्तर यह है कि 'भाव-कुभाव' किसी प्रकार भी नाम-जपसे दसों दिशाओंमें कल्याण होता है, इस बातपर तो श्रद्धा होनी ही चाहिये। इसपर भी श्रद्धा न हो तब वैसा फल कैसे हो सकता है? इसपर यदि कोई कहे कि 'विचारद्वारा तो हम श्रद्धा करना चाहते हैं, परन्तु मन इसे स्वीकार नहीं करता; इसके लिये क्या करें?' तो इसका उत्तर यह है कि बुद्धिके विचारसे विश्वास करके ही नाम-जप करते रहना चाहिये। भगवान्‌पर विश्वास होनेके कारण तथा नाम-जपके प्रभावसे आगे चलकर पूर्ण श्रद्धा और प्रेम आप ही प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु यदि अर्थसहित जप किया जाय तो और भी शीघ्र परमानन्दकी प्राप्ति हो सकती है।

बहुत-से भाई कहते हैं कि 'हमलोग वर्षोंसे मन्दिरोंमें भगवान्‌के दर्शन करने जाते हैं, परन्तु हमें विशेष कोई लाभ नहीं हुआ—इसका क्या कारण है?' तो इसका उत्तर यह है कि विशेष लाभ न होनेमें एक कारण तो है श्रद्धा और प्रेमकी कमी तथा दूसरा कारण है भगवान्‌के

विग्रह-दर्शनका रहस्य न जानना। मन्दिरमें भगवान्‌के दर्शनका रहस्य है—उनके रूप, लावण्य, गुण, प्रभाव और चरित्रका स्मरण-मनन करके उनके चरणोंमें अपनेको अर्पित कर देना। परन्तु ऐसा नहीं होता, इसका कारण रहस्य और प्रभाव जाननेकी त्रुटि ही है। मन्दिरमें जाकर भगवान्‌के स्वरूप और गुणोंका स्मरण करना चाहिये और भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये, जिससे उनके मधुर स्वरूपका चिन्तन सदा बना रहे और उनकी आदर्श लीला तथा आज्ञाके अनुसार आचरण होता रहे। जो ऐसा करते हैं, उन्हें भगवत्कृपासे बहुत ही शीघ्र प्रत्यक्ष शान्तिकी प्राप्ति होती है। देह-त्यागके बाद परमगति मिलनेमें तो सन्देह ही क्या है।

श्रीभगवान्‌के अनन्त गुण हैं, उनका वर्णन कोई नहीं कर सकता। वे भगवान् जीवोंपर दया करके अवतार ग्रहण करते हैं और ऐसी लीला करते हैं जिसके श्रवण, गायन और अनुकरणसे जीवोंका परम कल्याण होता है। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ऐसे ही परम दयालु अवतार हैं। इनके गुण, प्रभाव, आचरण, लीला आदिकी महिमा शेष, महेश, गणेश और सरस्वती भी नहीं गा सकते; तब मुझ-सरीखा एक साधारण मनुष्य तो क्या कह सकता है। तथापि जिन सज्जन महापुरुषोंने अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिये महाराजके कुछ गुण शास्त्रोंमें गाये हैं, उन्हींके आधार-बलपर बालककी भाँति मैं भी कुछ कहनेकी चेष्टा करता हूँ।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके गुण और चरित्र परम आदर्श थे और उनका इतना प्रभाव था कि जिसकी तुलना नहीं हो सकती। उनकी अपनी तो बात ही क्या है, उनके गुणों और चरित्रोंका प्रभाव उनके शासनकालमें सारी प्रजापर ऐसा विलक्षण पड़ा कि रामराज्यमें त्रेतायुग

सत्ययुगसे भी बढ़कर हो गया। रामराज्यके वर्णनमें आता है—

सब लोग अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुकूल वेदमार्गपर चलते हैं और सुख पाते हैं। भय, शोक, रोग तथा दैहिक, दैविक और भौतिक ताप कहीं नहीं हैं। राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, झूठ-कपट, प्रमाद-आलस्य आदि दुर्गुण देखनेको भी नहीं मिलते। सब लोग परस्पर प्रेम करते हैं और स्वधर्ममें दृढ़ हैं। धर्मके चारों चरणों—सत्य, शौच, दया और दानसे जगत् परिपूर्ण है। स्वप्नमें भी कहीं पाप नहीं है। स्त्री-पुरुष सभी रामभक्त हैं और सभी परमगतिके अधिकारी हैं। प्रजामें न छोटी उम्रमें किसीकी मृत्यु होती है, न कोई पीड़ा है; सभी सुन्दर और नीरोग हैं। दरिद्र, दुःखी, दीन और मूर्ख कोई भी नहीं है। सभी नर-नारी दम्भरहित, धर्मपरायण, अहिंसापरायण, पुण्यात्मा, चतुर, गुणवान्, गुणोंका आदर करनेवाले, पण्डित, ज्ञानी और कृतज्ञ हैं—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥
राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी॥
अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना॥
सब निर्दंभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥

(रा० च० मा०, उत्तर० २०; २०। १—४)

सभी उदार, परोपकारी, ब्राह्मणोंके सेवक और तन, मन, वचनसे

एकपत्नीव्रती हैं। स्त्रियाँ सभी पतिव्रता हैं। ईश्वरकी भक्ति और धर्ममें सभी नर-नारी ऐसे संलग्न हैं मानो भक्ति और धर्म साक्षात् मूर्तिमान् होकर उनमें निवास कर रहे हों। पशु-पक्षी सभी सुखी और सुन्दर हैं। भूमि सदा हरी-भरी और वृक्षादि सदा फूले-फले रहते हैं। सूर्य-चन्द्रमादि देवता बिना ही माँगे समस्त सुखदायी वस्तुएँ प्रदान करते हैं। सारे देशमें सुख-सम्पत्तिका साम्राज्य छाया हुआ है। श्रीसीताजी और तीनों भाई तथा सारी प्रजा श्रीरामकी सेवामें ही अपना सौभाग्य मानते हैं और श्रीरामजी सदा उनके हितमें लगे रहते हैं। रामराज्यकी यह व्यवस्था महान् आदर्श है। आज भी संसारमें जब कोई किसी राज्यकी प्रशंसा करता है या महान् आदर्श राज्यकी बात कहता है तो सबसे ऊँची प्रशंसामें वह यही कहता है कि बस, वहाँ तो 'रामराज्य' है।

जिनके गुणोंसे प्रभावित राज्यमें प्रजा ऐसी हो, उनके गुण और चरित्र कैसे होंगे, इसका अनुमान करते ही हृदय भक्तिसे गद्गद हो उठता है। भगवान्‌के अनन्त गुणों और चरित्रोंका जरा-सा भी स्मरण-मनन महान् कल्याणकारी और परम पावन है, इसी खयालसे यहाँ उनके कुछ गुणोंका बहुत ही संक्षेपमें वर्णन किया जाता है—

गुरुभक्ति

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी गुरुभक्ति आदर्श है। गुरुके प्रति कितनी आदरबुद्धि, कितना विश्वास, उनकी सेवामें कैसी प्रसन्नता और उनके साथ बोल-चालमें कैसी विनय होनी चाहिये, इन बातोंका आदर्श श्रीरामकी गुरुभक्तिमें मिलता है। मुनि विश्वामित्रजी आपके शिक्षागुरु हैं, 'विद्यानिधि भगवान्'ने उनसे विद्या ग्रहण की है। मुनिके साथ श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाई जनकपुरमें पधारते हैं और गुरुकी आज्ञासे

नगरकी शोभा देखनेके बहाने नगरनिवासी नर-नारियोंको नेत्रोंका परम लाभ प्रदान करनेके लिये जनकपुरमें जाते हैं। वहाँ कुछ देर हो जाती है, तब मनमें संकोच करते हैं कि गुरुजी कहीं नाराज तो न होंगे। इस प्रसङ्गमें श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कौतुक देखि चले गुरु पाहीं। जानि बिलंबु त्रास मन माहीं॥
जासु त्रास डर कहुँ डर होई। भजन प्रभाउ देखावत सोई॥

... ...

सभय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ।
गुर पद पंकज नाइ सिर बैठे आयसु पाइ॥

(रा० च० मा०, बाल० २२४। ३-४; २२५)

रातको दोनों भाई नियमपूर्वक मानो प्रेमसे जीते हुए प्रेमपूर्वक श्रीगुरुजीके चरणकमल दबाते हैं—

तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥

(रा० च० मा०, बाल०, २२५। ३)

मुनि श्रीवसिष्ठजी आपके कुलगुरु हैं। आप सब प्रकारसे गुरुकी सेवा करनेमें मानो अपना सौभाग्य समझते हैं। वनमें जब वसिष्ठजी भरतजीका पक्ष लेकर भगवान्‌से कहते हैं—

सब के उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।
पुरजन जननी भरत हित होइ सो कहिअ उपाउ॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० २५७)

—तब भगवान् श्रीभरतजीपर गुरुका स्नेह देखकर भरतजीके भाग्यकी सराहना करते हुए कहते हैं—

जे गुर पद अंबुज अनुरागी। ते लोकहुँ बेदहुँ बड़भागी॥
राउर जा पर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० २५८। ३)

'जो मनुष्य गुरुके चरणकमलोंके प्रेमी हैं, वे लोक और वेद दोनोंमें बड़भागी हैं। फिर जिसपर आपका ऐसा स्नेह है, उस भरतके भाग्यको तो कौन बखान सकता है?' और इसी प्रसङ्गमें वसिष्ठजीसे कहते हैं—

..... । नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ॥
सब कर हित रुख राउरि राखें। आयसु किएँ मुदित फुर भाषें॥
प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई। माथें मानि करौं सिख सोई॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० २५७। १-२)

'हे नाथ! उपाय तो आपके ही हाथ है। आपका रुख रखनेमें और आपकी आज्ञाको सत्य कहकर प्रसन्नतापूर्वक पालन करनेमें ही सबका हित है। पहले तो मुझे जो आज्ञा हो, मैं उसी शिक्षाको सिर चढ़ा कर करूँ।'

एक बार वसिष्ठजी भगवान्‌से उनके चरणकमलोंमें जन्म-जन्मान्तरतक प्रेम बना रहे, यह वर माँगने आते हैं और भगवान्‌से एकान्तमें मिलते हैं, उस समय भी मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् गुरुभक्तिका आदर्श स्थापित करनेके लिये—

अति आदर रघुनायक कीन्हा। पद पखारि पादोदक लीन्हा॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ४७। १)

—उनका अत्यन्त आदर करते हैं और चरण धोकर चरणामृत लेते हैं। धन्य!

पितृभक्ति

मर्यादापुरुषोत्तमकी पितृभक्ति भी अनूठी है। पिताकी स्पष्ट आज्ञाके पालन करनेकी तो बात ही क्या, पिताका संकेत पाकर आपने प्रसन्नतापूर्वक चौदह वर्षके लिये अयोध्याके राज्यका त्याग कर दिया। श्रीदशरथजीने वनगमनके लिये इन्हें स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा नहीं दी थी। कैकेयी माताके द्वारा ही आपको पिता दशरथकी मौन सम्मतिका पता लगा था, उसको आपने स्वीकार किया। भारी-से-भारी विपत्तिको सम्पत्ति मानकर उसे सिर चढ़ा लिया। जब माता कैकेयीने बड़ी कठोरताके साथ सब बातें सुनायीं, तब आपने बड़े हर्षके साथ विनयपूर्ण शब्दोंमें उत्साह दिखलाते हुए कहा—

अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके ॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ।

(वा० रा०, अयोध्या० १८ । २८-२९)

'हे माता ! मैं महाराज पिताजीकी आज्ञासे आगमें भी कूद सकता हूँ, तीक्ष्ण विष भी खा सकता हूँ और समुद्रमें भी कूद सकता हूँ !'

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी ॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा ॥
मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर ॥
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू ॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा ॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० ४० । ४; ४१; ४१ । १)

माता कौसल्याजीके पास जब आप विदा माँगने गये, तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने अपना दुःख सुनाकर इन्हें रोकना चाहा, तब आपने कहा—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम्॥

(वा० रा०, अयोध्या० २१। ३०)

'हे माता! पिताजीकी आज्ञा उल्लङ्घन करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। मैं सिरसे प्रणाम करता हूँ, तुम प्रसन्न होओ; मैं वनको जाना चाहता हूँ।'

इसी प्रकार आपने लक्ष्मणजीको धर्मकी महिमा और बड़ोंकी आज्ञाके पालनका महत्त्व समझाते हुए कहा—

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मसंश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम्॥
सोऽहं न शक्ष्यामि पुनर्नियोगमतिवर्तितुम्।
पितुर्हि वचनाद् वीर कैकेय्याहं प्रचोदितः॥

(वा० रा०, अयोध्या० २१। ४१, ४३)

'लोकमें धर्म ही श्रेष्ठ है, धर्ममें ही सत्य (सत्यस्वरूप परमात्मा) प्रतिष्ठित है। पिताजीका यह वचन भी धर्मसे युक्त है, इसलिये श्रेष्ठ है। अतः मैं पिताजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकूँगा। हे भाई! पिताजीके कथनानुसार माता कैकेयीने मुझे वन जानेकी आज्ञा दी है।'

सत्यः सत्याभिसन्धश्च नित्यं सत्यपराक्रमः।
परलोकभयाद् भीतो निर्भयोऽस्तु पिता मम॥

(वा० रा०, अयोध्या० २२। ९)

'हे भाई! मेरे पिताजी नित्य सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ और सत्यपराक्रमी हैं। वे सत्यच्युत होनेके भयसे परलोकके डरसे डर रहे हैं। मेरेद्वारा उनका यह भय दूर हो, वे निर्भय हो जायँ। अर्थात् मैं वनको चला जाऊँ, जिससे उनके वचन मिथ्या न हों।'

आप अपने शोकमग्न पिताजीसे कहते हैं—'महाराज ! इस बहुत ही छोटी-सी बातके लिये आपने इतना दुःख पाया। मुझे पहले किसीने यह बात नहीं जनायी। महाराजको इस दशामें देखकर मैंने माता कैकेयीसे पूछा और उनसे सब प्रसङ्ग सुनकर हर्षके मारे मेरे सब अङ्ग शीतल हो गये। अर्थात् मुझे बड़ी शान्ति मिली। हे पिताजी ! इस मङ्गलके समय स्नेहवश सोच करना त्याग दीजिये और हृदयमें हर्षित होकर मुझे आज्ञा दीजिये।' इतना कहते-कहते प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके सब अङ्ग पुलकित हो गये।

अति लघु बात लागि दुखु पावा। काहुँ न मोहि कहि प्रथम जनावा॥
देखि गोसाइँहि पूँछिउँ माता। सुनि प्रसंगु भए सीतल गाता॥
मंगल समय सनेह बस सोच परिहरिअ तात।
आयसु देइअ हरषि हियँ कहि पुलके प्रभु गात॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० ४४। ४; ४५)

धन्य है आपकी पितृभक्तिको, जिसके कारण स्नेहवश होकर सत्यसन्ध दशरथजीने आपका स्मरण करते हुए ही शरीरका त्याग कर दिया ।

मातृभक्ति

आपकी मातृभक्ति बड़ी ही ऊँची है। जन्म देनेवाली माता कौसल्याके प्रति तो आपका महान् आदरभाव है ही। विशेष बात तो यह है कि उनसे भी बढ़कर आदर आप उन माता कैकेयीजीका करते हैं, जिन्होंने आपको कठोर वचन कहे तथा वनमें भेजा। माता कौसल्याने जब कहा कि पितासे माताकी आज्ञा बढ़कर होती है, इससे तुम वनमें न जाओ, तब आपने माता कैकेयीकी आज्ञा बतलायी। माता कौसल्याने उसे स्वीकार किया और कहा—

जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० ५५। १)

श्रीभरतजीके साथ जब कैकेयीजी वनमें पहुँचती हैं तब श्रीरामचन्द्रजी सबसे पहले उन्हींसे मिलते हैं और उन्हें समझा-बुझाकर उनका संकोच दूर करते हैं—

प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति मति भेई॥
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० २४३। ४)

'सबसे पहले रामजी कैकेयी मातासे मिले और अपने सरल स्वभाव तथा भक्तिसे उनकी [तपती हुई] बुद्धिको तर (शीतल) कर दिया। फिर चरणोंमें गिरकर काल, कर्म और विधाताके सिर दोष मढ़कर उनको सान्त्वना दी।'

पंचवटीमें एक दिन बात-ही-बातमें लक्ष्मणजीने भरतजीकी बड़ाई करते हुए माता कैकेयीकी निन्दा कर दी। उन्होंने कहा—

भर्ता दशरथो यस्याः साधुश्च भरतः सुतः।
कथं नु साम्बा कैकेयी तादृशी क्रूरदर्शिनी॥

(वा० रा०, अरण्य० १६। ३५)

'जिसके पति महाराज दशरथजी और पुत्र साधुस्वभाव भरतजी हैं, वह माता कैकेयी ऐसी निर्दय स्वभाववाली कैसे हुई?'

यह सुनते ही भगवान् श्रीरामजीने कहा—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु॥

(वा० रा०, अरण्य० १६। ३७)

'हे तात! तुमको मझली माता कैकेयीकी निन्दा कभी नहीं करनी

चाहिये। इक्ष्वाकुकुलनाथ भरतकी ही बात करो।'

और तो क्या, लंका-विजयके पश्चात् जब दिव्यधामसे महाराज दशरथजी आये तब उनसे भी आप हाथ जोड़कर यह प्रार्थना करते हैं कि 'हे धर्मज्ञ ! आप मेरी माता कैकेयी और भाई भरतपर प्रसन्न हों। आपने जो कैकेयीको यह शाप दिया था कि मैं तुम्हारा पुत्रसहित त्याग करता हूँ—यह भयंकर शाप, हे प्रभो ! पुत्रसहित माता कैकेयीको स्पर्श भी न करे।'

इति ब्रुवाणं राजानं रामः प्राञ्जलिरब्रवीत्।
कुरु प्रसादं धर्मज्ञ कैकेय्या भरतस्य च॥
सपुत्रां त्वां त्यजामीति यदुक्ता केकयी त्वया।
स शापः केकयीं घोरः सपुत्रां न स्पृशेत् प्रभो॥

(वा० रा०, युद्ध० ११९। २५-२६)

जब अयोध्या लौटते हैं, तब भी पहले माता कैकेयीसे मिलते हैं और समझा-बुझाकर उन्हें सुखी करते हैं। इससे बढ़कर मातृभक्तिका और क्या उदाहरण होगा ?

भ्रातृप्रेम

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामका भ्रातृप्रेम भी अतुलनीय है। रामके भ्रातृप्रेमका आदर्श जगत् मान ले तो सारी कलह मिटकर सब भाइयोंमें शान्ति हो जाय। आप लड़कपनसे ही अपने तीनों भाइयोंसे अत्यन्त प्रेम करते थे। सदा उनकी देख-भाल करते और उन्हें सुख पहुँचाने तथा प्रसन्न करनेकी चेष्टा करते। समय-समयपर खेलमें स्वयं हार मानकर उन्हें जिता देते थे। तीनों भाइयोंको एक साथ लेकर ही भोजन करते। विवाह भी चारोंके साथ ही हुए।

जब महाराज दशरथजीने रामजीके राज्याभिषेकका आयोजन

किया, तब यह सुनकर आपके मनमें बड़ा ही खेद हुआ। आपने पश्चात्ताप करते हुए कहा—हमारे निर्मल कुलमें यह एक प्रथा बड़ी अनुचित है जो दूसरे भाइयोंको छोड़कर अकेले बड़े भाईको राज्य दिया जाता है। अरे, हम सब जन्मे एक साथ, खाना-पीना, सोना-जागना, लड़कपनके खेल, कर्णवेध और उपनयन-संस्कार सब एक साथ हुए और विवाहोत्सव भी सबके एक साथ हुए, अब यह राज्य मुझ अकेलेको क्यों मिलता है?

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० १। ३-४)

श्रीरामजीको अपने राज्याभिषेकका प्रस्ताव बहुत ही अनुचित जँचा; केवल पिताजीकी आज्ञा, प्रजाके हित और भाइयोंकी प्रसन्नताके लिये ही उन्होंने अपना राज्याभिषेक स्वीकार किया था। इसीसे वन जानेके समय भरतको राज्य मिलनेकी बातसे आपको बड़ी प्रसन्नता हुई। वनमें आपने लक्ष्मणजीसे स्पष्ट शब्दोंमें कहा—

'हे लक्ष्मण! मैं सत्यपूर्वक और आयुधको छूकर प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि मैं धर्म, अर्थ, काम और समस्त पृथ्वी तथा और जो कुछ भी चाहता हूँ, सब तुम्हीं लोगोंके लिये। मैं भाइयों (तुम्हीं लोगों) के संग्रह और सुखके लिये राज्यकी इच्छा करता हूँ। हे लक्ष्मण! भरत, तुम और शत्रुघ्नको छोड़कर यदि मुझे कोई सुख मिले तो उसको आग जला दे!'

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
इच्छामि भवतामर्थें एतत् प्रतिशृणोमि ते॥

भ्रातृणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण।
राज्यमप्यहमिच्छामि　　सत्येनायुधमालभे॥
यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद।
भवेन्मम सुखं किञ्चिद् भस्म तत् कुरुतां शिखी॥

(वा० रा०, अयोध्या० ९७। ५, ६, ८)

लक्ष्मणजीके सामने आप भरतजीकी प्रशंसा करते-करते नहीं अघाते और भरतका गुण, शील, स्वभाव कहते-कहते प्रेमार्णवमें डूब जाते हैं—

कहत भरत गुन सीलु सुभाऊ। पेम पयोधि मगन रघुराऊ॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० २३१। ४)

चित्रकूटमें भरतने जब श्रीरामजीको लौटानेके लिये बहुत ही अनुरोध किया तब आपने कह दिया, 'भरत! सुनो, पिताजीने मेरे प्रेमका प्रण निबाहनेके लिये प्राण त्याग दिये, परन्तु सत्यके रक्षार्थ उन्होंने मुझको वनमें भेजा। ऐसे सत्यवादी पिताके वचन टालनेमें मुझको बड़ा संकोच है, परन्तु उससे भी बढ़कर संकोच मुझे तुम्हारा है। तुम संकोच छोड़कर जो कह दो मैं वही करनेको तैयार हूँ। प्रसन्न होकर कहो'—

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।
सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० २६४)

श्रीभरतजी भी तो आपके ही भाई थे। उन्होंने स्वामीको संकोचमें डालना अनुचित समझा और उन्हींको संकोच छोड़कर आज्ञा देनेको कहा। परन्तु श्रीरामजीका भ्रातृप्रेम यहाँपर पराकाष्ठाको पहुँच गया। वे जन्म देनेवाली माताके वचनोंको न मानकर वनमें चले आये थे, परन्तु

आज भरतको कह रहे हैं कि तुम जो कहो सो करनेको तैयार हूँ।

श्रीरामचन्द्रजीने पिताजीकी आज्ञाको निमित्त बनाकर, वसिष्ठ-जनकादि गुरुजनोंको तथा भरतको समझा-बुझाकर सन्तोष प्रदान किया और अन्तमें जिस किसी प्रकारसे भी राज्यका पालन भरतजीके जिम्मे लगाया। राज्य और भोग तुच्छ वस्तु हैं—यहाँ आपने इस बातको अपने व्यवहारसे प्रत्यक्ष सिद्ध करके त्यागका एक महान् आदर्श उपस्थित कर दिया। भरतजी भी त्यागमूर्ति थे, उन्होंने प्रभुकी आज्ञा मानकर केवल राज्यका पालन ही स्वीकार किया, राज्य नहीं। वे चौदह वर्षकी अवधितक अयोध्याके राज्यमें वैसे ही निर्लिप्त रहे जैसे चम्पाके बागमें भ्रमर रहता है—'**चंचरीक जिमि चंपक बागा।**'

श्रीलक्ष्मणजीको शक्ति लगती है और वे बेहोश हो जाते हैं। उस समयकी रामकी दशा तो भ्रातृप्रेमका बहुत ही सुन्दर आदर्श है। वे कहते हैं—

परित्यक्ष्याम्यहं प्राणान् वानराणां तु पश्यताम्।
यदि पञ्चत्वमापन्नः सुमित्रानन्दवर्द्धनः॥

(वा० रा०, युद्ध० ४९। ७)

'यदि सुमित्राका आनन्द बढ़ानेवाले लक्ष्मणके प्राण चले जायँगे, तो मैं भी वानरोंके देखते-देखते ही अपने प्राणोंको त्याग दूँगा।'

गोस्वामी तुलसीदासजीने यहाँपर श्रीरामजीके प्रलापका जो वर्णन किया है, उससे भ्रातृप्रेमकी बड़ी सुन्दर शिक्षा मिलती है।

लंका-विजयके पश्चात् जब विभीषण एक बार लंकामें पधारनेके लिये आपसे प्रार्थना करते हैं, तब आप कहते हैं—'भाई! तुम्हारा खजाना और घर सब मेरा ही है, यह तुम सत्य जानो, परन्तु भाई भरतकी दशाका स्मरण करके मुझे एक-एक निमेष कल्पके समान बीत

रहा है। वह शरीर सुखाये तपस्वीके वेषमें निरन्तर मुझे ही याद कर रहा है, हे मित्र ! अब तो वह यत्न करो जिससे मैं उसे जल्दी देख सकूँ। हे भाई ! यदि मैं अवधि बीतनेपर जाऊँगा तो प्यारे भाईको जीता न पाऊँगा।' यों कहकर भरतजीके प्रेमका स्मरण करके प्रभुका शरीर बार-बार पुलकित होने लगा।

बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥

(रा० च० मा०, लङ्का० ११६ ग)

जब अयोध्यामें पहुँचते हैं, तब तो प्रेमका समुद्र उमड़ पड़ता है। जमीनपर पड़े हुए भरतजीको जबर्दस्ती उठाकर आप हृदयसे लगा लेते हैं, शरीर रोमाञ्चित हो जाता है और कमलके समान नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बहने लगती है।

फिर जब राज्याभिषेककी तैयारी होती है, सबका स्नान-मार्जन होता है तब प्रभु स्वयं अपने हाथोंसे भरतजीकी जटाको सुलझाते हैं और तीनों भाइयोंको स्वयं भलीभाँति नहलाते हैं। धन्य भ्रातृप्रेम !

पुनि करुनानिधि भरतु हँकारे। निज कर राम जटा निरुआरे॥
अन्हवाए प्रभु तीनिउ भाई। भगत बछल कृपाल रघुराई॥

(रा० च० मा०, उत्तर० १०। २-३)

श्रीरामका राज्यग्रहण वास्तवमें भाइयोंको सुख पहुँचानेके लिये ही था। वे समय-समयपर जो उपदेश-आदेश दिया करते थे, वह भी भाइयोंके हितके लिये ही। उनका बर्ताव ऐसा होता था कि जिसमें भाइयोंको कोई संकोच न हो। एक बार जब भरतजी कुछ पूछना चाहते थे और संकोचवश स्वयं न पूछकर उन्होंने हनुमान्‌जीके द्वारा पुछवाया तब आपने कहा था—

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ। भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ३५। ४)

अधिक क्या, आप अपने भाइयोंके गुण-गान और उनके स्मरणमें ही सुखी रहते थे—

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० २१७। ४)

हनुमान्‌जीने कहा है—

रघुबीर निज मुख जासु गुन गन कहत अग जग नाथ जो।
काहे न होइ बिनीत परम पुनीत सदगुन सिंधु सो॥

(रा० च० मा०, उत्तर १। छन्द)

इस प्रकार भ्रातृप्रेमका आदर्श उपस्थित करके आपने परमधामकी यात्रा भी अपने भाइयोंके साथ ही की थी। आज भी इन चारों भाइयोंका आदर्श प्रेम जगत्‌में सबके लिये महान् शिक्षाप्रद बना है और सदा बना रहेगा।

पत्नीप्रेम और एकपत्नीव्रत

भगवान् श्रीरामका सीताजीके प्रति जो आदर्श प्रेम था वह उनके महान् एकपत्नीव्रतका साक्षात् उदाहरण है। सीताजीकी प्रसन्नताके लिये ही आप उनको वनमें साथ ले जाते हैं और वहाँ नाना प्रकारके इतिहास, धर्मशास्त्र आदि सुनाकर उनको सुख पहुँचाते हैं। जब रावणद्वारा सीताजीका हरण हो जाता है, तब साधारण मानवकी तरह **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (जो मुझे जैसे भजता है उसको मैं वैसे ही भजता हूँ) इस नीतिके अनुसार भाँति-भाँतिसे विलाप करते हुए अपनी विरह-वेदना प्रकट करते हैं। यहाँतक कि उनकी उस विरहदशाको देखकर जगज्जननी सतीतकको मोह हो जाता है। श्रीरामजी उन्मत्तकी भाँति—

हा गुन खानि जानकी सीता। रूप सील ब्रत नेम पुनीता॥

(रा० च० मा०, अरण्य०, २९।४)

—आदि पुकारते हुए लताओं, वृक्षों, पक्षियों, पशुओं और भ्रमरोंकी पंक्तियोंसे सीताजीका पता पूछते हैं। आकाशपथसे गिराये हुए सीताजीके वस्त्राभूषण जब सुग्रीवजी आपको देते हैं तब आप उन्हें हृदयसे लगाकर चिन्ता करने लगते हैं—'**पट उर लाइ सोच अति कीन्हा।**' जब हनुमान्‌जी लंका जाते हैं तब उनके द्वारा आप जो सन्देश भेजते हैं, वह तो इतना सुन्दर और इतना ऊँचा है कि उसमें प्रेमका समस्त स्वरूप ही आ जाता है। वे कहते हैं—'हे प्रिये! मेरे और तुम्हारे प्रेमका तत्त्व जानता है केवल एक मेरा मन, और वह मन सदा रहता है तुम्हारे पास। बस, इतनेमें ही मेरे प्रेमका सार समझ लो।'

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

(रा० च० मा०, सुन्दर० १४।३-४)

महारानी जानकीजीके पातिव्रत-धर्मके गौरवको और भी उज्ज्वल करनेके लिये प्रजारञ्जनके व्याजसे जब उन्हें वनमें भेज देते हैं, तब पीछेसे अश्वमेधयज्ञमें सीताजीकी स्वर्ण-प्रतिमा बनवाकर आप अपने एकपत्नीव्रतका बड़ा ही पवित्र आदर्श उपस्थित करते हैं। धन्य!

भक्तवत्सलता

भक्तवत्सलता तो भगवान्‌का विख्यात बाना ही है। ऐसा कोई काम नहीं जो भगवान् अपने भक्त या सेवकके लिये नहीं कर सकते। वस्तुतः भगवान्‌के अवतारका प्रधान हेतु भक्तोंपर अनुग्रह करना ही होता है— '**परित्राणाय साधूनाम्।**' जब भक्त भगवान्‌से मिलनेके लिये व्याकुल होकर उन्हें पुकारता है, तब भगवान्‌को स्वयं पधारना पड़ता

है। दण्डकारण्यमें सुतीक्ष्ण नामक अगस्त्यजीके शिष्य एक मुनि रहते थे। वे श्रीरामजीके बड़े ही अनन्य भक्त थे। उन्हें समाचार मिला कि भगवान् श्रीराम दण्डकवनमें आये हैं। वे दर्शनके लिये व्याकुल हो गये और पागलकी भाँति उठ दौड़े। वे प्रेममें ऐसे मग्न हो गये कि शरीरकी सुधितक भूल गये। श्रीशिवजी कहते हैं—

निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहि सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहि बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥

(रा० च० मा० अरण्य० ९। ५-६)

भक्तवत्सल भगवान् अपने प्रिय भक्तकी यह दशा वृक्षकी ओटसे देख-देखकर मुग्ध हो रहे थे। मुनिका अत्यन्त प्रेम देखकर भगवान् उनके हृदयमें प्रकट हो गये। मुनि हृदयमें भगवान् अवधनाथके दर्शन पाकर पुलकित हो गये और रास्तेमें ही बैठ गये। भगवान् समीप आकर मुनिको ध्यानसे जगाते हैं, परन्तु ध्यानानन्दमें मतवाले मुनि जागते ही नहीं; तब श्रीरामजीने उनके हृदयसे अपना श्रीरामरूप हटा लिया, तब मुनिने व्याकुल होकर आँखें खोलीं। देखते हैं—नेत्रोंके सामने सुखधाम राम उपस्थित हैं। मुनि कृतार्थ हो गये और प्रेममग्न होकर चरणोंपर गिर पड़े—

आगें देखि राम तन स्यामा। सीता अनुज सहित सुख धामा॥
परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेम मगन मुनिबर बड़भागी॥

(रा० च० मा०, अरण्य० ९। १०-११)

इसी प्रकार भगवान्‌ने शबरीजीके यहाँ स्वयं पधारकर उनकी अभिलाषा पूर्ण की। और—

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

(रा० च० मा०, अरण्य० ३४। ३)

—'कहकर उन्हें बड़ाई दी। उनके प्रेमभरे फलोंको खा-खाकर आप अघाये ही नहीं। काकभुशुण्डिजीको तो प्रत्येक अवतारमें ही अपनी परम मधुर बाललीलाका आनन्द प्रदान करते हैं। धन्य हैं!

श्रीहनुमान्‌जीके तो आप अपनेको ऋणी मानते हैं। कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहि कोउ सुर नर मुनि तनु धारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥

(रा० च० मा०, सुन्दर० ३१। ३-४)

वाल्मीकिरामायणमें भगवान्‌जीने हनुमान्‌जीसे कहा है—

चरिष्यति कथा यावदेषा लोके च मामिका॥
तावत्ते भविता कीर्त्तिः शरीरेऽप्यसवस्तथा।
लोका हि यावत्स्थास्यन्ति तावत्स्थास्यन्ति मे कथाः॥
एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥
मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥

(वा० रा०, उत्तर० ४०। २१—२४)

'हे हनुमान्! इस लोकमें जबतक मेरी यह कथा चालू रहेगी, तबतक तेरी कीर्ति और तेरे शरीरमें प्राण रहेंगे और जबतक जगत् रहेगा तबतक मेरी कथा रहेगी। तेरे एक-एक उपकारके बदलेमें मैं अपने प्राण दे दूँ तो भी तेरे शेष उपकारोंके लिये तो मैं तेरा ऋणी ही बना रहूँगा। हे हनुमान्! तूने मेरा जो कुछ उपकार किया है वह मेरे शरीरमें ही जीर्ण हो जाय, ऐसा अवसर ही न आवे जब तुझे उपकारोंका बदला पाने योग्य पात्र बनना पड़े; क्योंकि आपत्ति पड़नेपर ही मनुष्य

प्रत्युपकारका पात्र होता है।'

शरणागतवत्सलता

भगवान्‌की शरणागतवत्सलता प्रसिद्ध है। उनकी घोषणा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा० रा०, युद्ध० १८। ३३)

'जो एक बार भी मेरी शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मुझसे अभय चाहता है उसको मैं सब भूतोंसे अभयदान दे देता हूँ, यह मेरा व्रत है।'

रावणको सुन्दर सीख देनेके बदलेमें चरणप्रहार पाकर विभीषण नाना प्रकारके सात्त्विक मनोरथ करते हुए भगवान्‌के शरण आते हैं। जब शिविरके द्वारपर पहुँचते हैं तो वानर उन्हें घेर लेते हैं। भगवान्‌के पास संवाद पहुँचता है। भगवान् श्रीरामजी अपने सब मन्त्रियों, सखाओं और सेनापतियोंसे सम्मति चाहते हैं। वाल्मीकीय रामायणके अनुसार वहाँ अंगद, जाम्बवान्, मैन्द, नल, हनुमान् आदि सब अपनी-अपनी सम्मति देते हैं। हनुमान्‌के सिवा सभीकी सम्मति विभीषणके विरुद्ध ही होती है। रामचरितमानसमें सुग्रीव कहते हैं—राक्षसोंकी माया जानी नहीं जाती; पता नहीं, यह क्यों आया है। यह रावणका भेजा हुआ दुष्ट हमारा भेद लेने आया होगा। मेरा मन तो ऐसा कहता है कि इसे कैद कर लेना चाहिये—

जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारन आया॥
भेद हमार लेन सठ आवा। राखिअ बाँधि मोहि अस भावा॥

(रा० च० मा०, सुन्दर० ४२। ३-४)

भगवान् श्रीरामजीने कहा—मित्र! तुम्हारी नीति तो ठीक है,

परन्तु मेरा प्रण है शरणागतके भयको हरना—

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी॥

× × ×

सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पावँर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि॥
कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(रा० च० मा०, सुन्दर० ४२। ४; ४३; ४३। १)

अतएव हे सुग्रीव! जाओ, उसे ले आओ। सुग्रीव आदिके स्नेहवश आपत्ति करनेपर रामजीने स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया—

जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥

(रा० च० मा०, सुन्दर ४३। ४)

यहाँतक कि—

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥

(वा० रा०, युद्ध० १८। ३४)

'हे वानरश्रेष्ठ सुग्रीव! (तुम घबड़ाते क्यों हो?) यह व्यक्ति विभीषण अथवा स्वयं रावण भी हो, तो भी उसको लिवा लाओ। मैंने उसे भी अभयदान दे दिया।'

सुग्रीवजी आदि उन्हें ले आये। भगवान्‌ने उनको अपनी शरणमें रखकर कृतार्थ कर दिया।

लंकामें युद्धके समय एक बार रावणने क्रुद्ध होकर विभीषणपर शक्ति छोड़ी। शक्तिके लगते ही विभीषणका मरण हो जायगा, यह जानकर शरणागतवत्सल भगवान् श्रीरामजी तुरंत ही विभीषणको पीछे

करके स्वयं सामने आ गये और भयानक शक्तिको अपने वक्षःस्थलपर ले लिया।

आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा॥
तुरत बिभीषन पाछें मेला। सन्मुख राम सहेउ सोइ सेला॥

(रा० च० मा०, लङ्का० ९३। १)

विभीषणको राज्य तो मिला ही। उन्हें भगवान्‌ने अपनी परम दुर्लभ भक्ति प्रदान की।

सखाओंसे प्रेम

यों तो भगवान् सभीके परम सुहृद् तथा स्वाभाविक ही मित्र हैं, परन्तु लीलामें वे मित्रोंके साथ कैसा व्यवहार करते हैं—यहाँ आज यही देखना है। मनुष्योंको तो सभी अपना मित्र बनाते हैं, भगवान्‌ने राक्षस और वानर-भालुओंतकको अपना सखा बनाकर उन्हें धन्य किया। हनुमान्‌जीकी प्रेरणासे दुःखमें डूबे हुए सुग्रीवको अग्निकी साक्षी देकर आप अपना मित्र बनाते हैं और उनका दुःख सुनते ही आपकी भुजाएँ फड़क उठती हैं और आप कहते हैं—

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान॥

(रा० च० मा०, किष्किन्धा० ६)

तदनन्तर मित्रका धर्म बतलाते हुए आप कहते हैं—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
जिन्ह कें असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥

बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

(रा० च० मा०, किष्किन्धा० ६। १—३)

मित्रके ये लक्षण सदा ध्यानमें रखने योग्य हैं। इसके बाद भगवान् सुग्रीवको आश्वासन देते हुए कहते हैं—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

(रा० च० मा०, किष्किन्धा ६। ५)

मित्र सुग्रीवके सुखके लिये बड़ा भारी उलाहना सहकर भी भगवान् उसके शत्रु भाई बालिका वध कर डालते हैं और सुग्रीवकी मैत्रीको निबाहते हैं।

निषादको सखा बनाकर इतना ऊँचा बना दिया कि स्वयं वसिष्ठजी महाराज उसे हृदयसे लगाकर मिलने लगे—

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥
रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० २४२। ३)

जब भगवान् स्वयं किसी प्रकारका विचार न करके सखाभावसे निषादको हृदयसे लगाकर मिलते हैं, तब वसिष्ठजी इस प्रकार मिलें, इसमें क्या आश्चर्य है—

हिंसारत निषाद तामस बपु पसु समान बनचारी।
भेंट्यो हृदयँ लगाइ प्रेमबस नहिं कुल जाति बिचारी॥

(विनयपत्रिका १६६)

लंकाविजय करके अयोध्या लौटनेपर अपने इन वानर-भालु और विभीषणादि सखाओंको बुलाकर उनसे गुरुजीके चरणोंमें प्रणाम कराते हैं और परिचय देते हुए आप कहते हैं—

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ७। ४)

राज्याभिषेकके पश्चात् अपने इन सब मित्रोंको बुलाकर आपने कहा—

अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥
सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥

(रा० च० मा०, उत्तर० १५। ३-४)

फिर वस्त्राभूषण मँगवाकर तीनों भाइयोंसहित स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपने हाथोंसे उनको वस्त्राभूषण पहनाकर विदा किया।

भगवान्‌के उन बालसखाओंकी महिमा तो कह ही कौन सकता है, जिन्होंने श्रीअवधपुरीमें चारों भाइयोंके साथ खेलने-खानेका सौभाग्य प्राप्त किया था।

दयालुता

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको दयाका सागर कहें, तब भी उनकी अपरिमित दयाका तिरस्कार ही होता है। जीवोंपर उनकी जो दया है, वह कल्पनातीत है। मनुष्य अपनी ऊँची-से-ऊँची कल्पनासे उनकी दयाका जहाँतक अनुमान लगाता है, भगवान्‌की दया उससे अनन्तगुना अधिक ही नहीं, असीम और अत्यन्त विलक्षण है। भगवान् वस्तुतः दयामय ही हैं। **'है तुलसिहि परतीति एक प्रभु मूरति कृपामयी है।'** गीतामें भगवान् कहते हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति'** (५। २९) मुझको सब भूतोंका सुहृद् जानकर मनुष्य शान्तिको प्राप्त होता है।

अवश्य ही भगवान्‌की दया दोनों रूपोंसे सामने आती है। कहीं वह प्रेमके रूपमें दर्शन देती है, कहीं दण्डके रूपमें। राक्षसोंको भगवान्‌ने

मारा, परन्तु मारा नहीं, वास्तवमें तार दिया। भगवान्‌का क्रोध भी मुक्ति देनेवाला है। **'निर्बानदायक क्रोध जाकर'**। भगवान्‌के हाथोंसे जितने राक्षस मरे, सबको दुर्लभ गति प्राप्त हुई। कुछके नमूने देखिये—

ताड़काको—

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥

(रा० च० मा०, बाल० २०८। ३)

विराधको—

तुरतहिं रुचिर रूप तेहिं पावा। देखि दुखी निज धाम पठावा॥

(रा० च० मा०, अरण्य० ६। ४)

खर-दूषणादिको—

राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्बान। (रा० च० मा०, अरण्य० २० क)

मारीचको—

अंतर प्रेम तासु पहिचाना। मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना॥

(रा० च० मा०, अरण्य० २६। ९)

कुम्भकर्णको—

तासु तेज प्रभु बदन समाना।

(रा० च० मा०, लङ्का ७०। ४)

रावणको—

तासु तेज समान प्रभु आनन।

(रा० च० मा०, लङ्का० १०२। ५)

सभी राक्षसोंको—

रामाकार भए तिन्ह के मन। मुक्त भए छूटे भव बंधन॥

(रा० च० मा०, लङ्का० ११३। ४)

इस प्रकार अपनेको दीन न समझनेवाले अति दीन राक्षसोंपर दया

करके भगवान्‌ने उनको मारकर तार दिया।

प्रेमसे तो आपने अनेकोंको अपनाया है। सारे वानर-भालुओंको वह गौरव दिया जो बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंको भी दुर्लभ है—

प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किए आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान॥

(रा० च० मा०, बाल० २९ क)

गौतम मुनिकी पत्नी अहल्या पतिके शापवश पाषाणकी शिला हो गयी थी। उस बेचारीमें यह भी शक्ति नहीं थी कि आर्त होकर भगवान्‌को पुकार सके। उसकी दीन दशा देखकर दयामय भगवान्‌ने स्वयं वहाँ पधारकर अपने चरण-स्पर्शसे उसका उद्धार किया।

केवटसे पैर धुलवाकर उसे अपना सुर-मुनि-दुर्लभ चरणोदक देकर परिवारसहित पार कर दिया।

पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० १०१)

दण्डकवनको स्वयं पधारकर शापमुक्त किया और वहाँ एक स्थानपर ऋषियोंकी हड्डियोंका ढेर देखकर प्रभु दयापरवश हो गये।

अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया॥

(रा० च० मा०, अरण्य० ८। ३)

मुनियोंने दुःखी मनसे कहा—भगवन्!—

निसिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुबीर नयन जल छाए॥

(रा० च० मा०, अरण्य० ८। ४)

—राक्षसोंने सारे मुनियोंके समूहोंको खा डाला। यह हड्डियोंका ढेर उन्हीं मुनियोंके शरीरोंका है। यह सुनकर और उनके दुःखको

देखकर श्रीरघुनाथजीके नेत्रोंमें जल छा गया और उन्होंने प्रतिज्ञा की—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।

(रा० च० मा०, अरण्य० ९)

दीन सुग्रीवको बालिके महान् अत्याचारसे बचाया। अङ्गदको दीन जानकर अपनाया और उसे युवराजपद दिलाया।

गीधराज जटायुपर जो दया हुई, वह तो सर्वथा अनूठी है। रावणके द्वारा घायल होकर जटायु दीन दशामें पड़ा है। श्रीरघुनाथजी उसके समीप पहुँचते हैं और उसकी दीन दशा देखकर दुःखी हो जाते हैं, उठाकर उसे अपनी गोदमें ले लेते हैं और नेत्रोंमें जल भरकर उसे आश्वासन देते हुए, अपने कोमल कर-कमलोंको उसके मस्तकपर फिराते हुए उसे सुखी करते हैं। किसी कविने क्या ही सुन्दर कहा है—

दीन मलीन दयालु बिहंग पर्‌यो महि सोचत खिन्न दुखारी।
राघव दीनदयालु कृपालु को देख दुखी करुना भइ भारी॥
गीधको गोद में राखि कृपानिधि नैन सरोजन में भरि बारी।
बारहिं बार सुधारहिं पंख जटायु की धूरि जटान सों झारी॥

श्रीरघुनाथजीने कहा—'हे तात! आप कुछ दिन और जीवन धारण कीजिये और मुझे पिताका सुख दीजिये।' गीध बड़ा चतुर था, उसने कहा—

जा कर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥
सो मम लोचन गोचर आगें। राखौं देह नाथ केहि खाँगें॥

(रा० च० मा०, अरण्य० ३०। ३-४)

इतना कहकर भगवान्‌की गोदमें ही उनकी ओर निर्निमेष दृष्टिसे देखते हुए और मुखसे श्रीरामका पवित्र नाम उच्चारण करते हुए जटायुने

मुनिदुर्लभ शान्ति प्राप्त की। तदनन्तर दयामय प्रभुने अपने हाथोंसे उसकी वैसे ही अन्त्येष्टि क्रिया की जैसे अपने पिताकी करते हैं—

पितु-ज्यों गीध-क्रिया करि रघुपति अपने धाम पठायो।
ऐसो प्रभु बिसारि तुलसी सठ ! तू चाहत सुख पायो॥

(गीतावली०, अरण्य० १६)

दयालुताका कैसा अनुपम उदाहरण है !

प्रजावत्सलता

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने सुन्दर बर्ताव और वत्सलतापूर्ण क्रियाओंसे प्रजाके कितने अधिक प्रेमभाजन हो गये थे, इसका पता तब लगता है जब उनके वनगमनकी तैयारी होती है। राज्याभिषेकके उत्सवसे तमाम प्रजामें आनन्द छा रहा है। प्रजामें हर्षका सागर उमड़ उठता है। अचानक दृश्य बदल जाता है। श्रीराम लक्ष्मण और सीताजीको साथ लेकर मुनिवेषमें वनको पधार रहे हैं। प्रजा इस दृश्यको देख न सकी। प्रजा उनके विरह-दुःखको सहनेमें अपनेको असमर्थ पाकर उनके साथ हो ली। श्रीरघुनाथजीने उन्हें बहुत प्रकारसे समझाया, परन्तु प्रेमवश कोई भी अयोध्यामें रहना नहीं चाहता।

सबहिं बिचारु कीन्ह मन माहीं। राम लखन सिय बिनु सुखु नाहीं॥
जहाँ रामु तहँ सबुइ समाजू। बिनु रघुबीर अवध नहिं काजू॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० ८३। ३)

यह निश्चय करके बालक और वृद्धोंको घरोंमें छोड़कर सब लोग उनके साथ हो लिये—

बालक बृद्ध बिहाइ गृहँ लगे लोग सब साथ।

(रा० च० मा०, अयोध्या० ८४)

आखिर श्रीरामजीको उन्हें सोये छोड़कर ही आगे बढ़ना पड़ा।

जब श्रीभरतजी चित्रकूट जाने लगे, तब प्रजामें श्रीरामदर्शनकी इतनी उत्सुकता बढ़ी कि घरोंकी रखवालीके लिये किसीने घर रहना स्वीकार नहीं किया। जिसको घर रहनेके लिये कहा जाता वही समझता मानो मेरी गर्दन कट रही है।

जेहि राखहिं रहु घर रखवारी। सो जानइ जनु गरदनि मारी॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० १८४। ३)

सब लोग भरतजीके साथ चित्रकूट गये।

जब श्रीरघुनाथजी लंका-विजय करके लौटे तब तो प्रजाके हर्षका पार न रहा। समाचार पाते ही वे सब-के-सब नर-नारी, जो जैसे बैठे थे, वैसे ही उठकर दौड़ पड़े। श्रीभगवान्‌को लक्ष्मणजी और जानकीजीसहित देखकर सब अयोध्यावासी हर्षित हो गये, उनकी वियोगजनित विपत्ति नष्ट हो गयी। सब लोगोंको प्रेमविह्वल तथा मिलनेके लिये अत्यन्त आतुर देखकर भगवान् श्रीरामजीने एक चमत्कार किया। उसी समय कृपालु श्रीरामजी असंख्य रूपोंमें प्रकट हो गये और सबसे एक ही साथ यथायोग्य मिले। श्रीरघुवीरजीने कृपादृष्टिसे देखकर सब नर-नारियोंको शोकरहित कर दिया। भगवान् क्षणमात्रमें इस प्रकार सबसे मिल लिये। शिवजी कहते हैं—हे उमा! यह रहस्य किसीने नहीं जाना।

प्रभु बिलोकि हरषे पुरबासी। जनित बियोग बिपति सब नासी॥
प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहि कृपाला॥
कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किए सकल नर नारि बिसोकी॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ५। २—४)

सच पूछिये तो प्रजाके सुख और सन्तोषके लिये ही श्रीरामजीने

राज्यपद स्वीकार किया। और वास्तवमें यही आदर्श है। जो प्रजाके सुखके लिये ही राजा बनता है वही राजा यथार्थ राजा है। अवधवासियोंके भाग्यका तो कहना ही क्या है, जहाँ प्रेमपरवश स्वयं भगवान् राजा बने हैं। शिवजी कहते हैं—

उमा अवधबासी नर नारि कृतारथ रूप।
ब्रह्म सच्चिदानंद घन रघुनायक जहँ भूप॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ४७)

आपकी प्रजावत्सलताका एक ऐसा उदाहरण है जिसकी तुलना जगत्में कहीं नहीं है। जिन सीताजीके लिये आप वन-वनमें विलाप करते भटके, जिनके लिये रावणसे घोर युद्ध किया—केवल प्रजारञ्जनके लिये हृदयको अत्यन्त कठोर बनाकर उन्हीं सीताजीको निर्दोष समझते हुए भी आपने वनमें भेज दिया। धन्य है!

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंकी गाथा गाकर कौन पार पा सकता है। वे परम दयालु, परम प्रेमी, परम सुहृद्, परम संयमी, परम कल्याणाश्रय, महान् वीर्यवान्, महान् बुद्धिमान्, शास्त्रविद्याविशारद, सौन्दर्य-माधुर्यके निधि, कान्तिमान्, धृतिमान्, जितेन्द्रिय, अत्यन्त गम्भीर, परम विनयी, महान् धीर, अनुपम प्रियदर्शन, मधुरभाषी, महान् क्षमाशील, परम उदार, परम ब्रह्मण्य, संगीतकलानिपुण, आदर्श सत्यवादी और सत्यव्रती, कुसुमसे भी कोमल, किन्तु कर्तव्यपालनमें वज्रसे भी कठोर, परम यशस्वी, महान् वाग्मी, सर्वशास्त्रतत्त्वज्ञ, महान् प्रतिभाशाली, आदर्श पुत्र, आदर्श शिष्य, आदर्श पति, आदर्श भाई, आदर्श स्वामी, आदर्श राजा, आदर्श मित्र, आदर्श शूरवीर, आदर्श आश्रयदाता, आदर्श गुणवान्, आदर्श सदाचारी, आदर्श धर्मव्रती, आदर्श त्यागी, नीतिपरायण, साधुजनप्रिय, परम प्रतापवान्, धर्मरक्षक, सर्वप्रिय, सर्वान्तर्यामी और सर्वशक्तिमान् हैं।

सत्यवादिताके सम्बन्धमें तो उन्होंने स्वयं घोषणा की है—**'रामो द्विर्नाभिभाषते'** (वा० रा० अयोध्या० १८। ३०)—राम दो बार नहीं बोलते। अर्थात् एक बार जो कह दिया सो निश्चित हो गया।

धर्मपरायणताका क्रियात्मक उदाहरण तो उनका समस्त जीवन ही है। साक्षात् भगवान् होनेपर भी आप धर्मकी मर्यादारक्षाके लिये नियमितरूपसे सन्ध्या-अग्निहोत्रादि कर्म स्वयं करते हैं। वर्णाश्रमके अनुसार ब्राह्मणों, ऋषियों तथा गुरुजनोंका पूजन करते हैं, यज्ञ-यागादि करते हैं, मन्दिरोंकी स्थापना और मूर्तिपूजन करते हैं, श्राद्ध-तर्पणादि क्रिया सावधानीसे करते हैं।

चित्रकूटमें भरतजीके साथ गये हुए ऋषियोंमें जाबालि नामक एक ऋषि थे। वे महाराज दशरथजीकी सभाके एक प्रधान सदस्य थे। श्रीरामजीको अयोध्या लौटनेकी बात समझाते हुए उन्होंने कुछ ऐसी बातें कहीं जो नास्तिकवादका समर्थन करनेवाली थीं। उनकी बातोंको सुनकर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् लीलासे उनपर रुष्ट हो गये और उन्होंने मुनिको फटकारकर बहुत कुछ कहा—

निन्दाम्यहं कर्म कृतं पितुस्तद्
यस्त्वामगृह्णाद् विषमस्थबुद्धिम्।
बुद्ध्यानयैवंविधया चरन्तं
सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम्॥

(वा० रा०, अयोध्या० १०९। ३३)

'इस प्रकारकी बुद्धिसे आचरण करनेवाले तथा परम नास्तिक एवं धर्ममार्गसे हटे हुए आपको जो मेरे पिताजीने अपना याजक बनाया मैं उनके इस कार्यकी निन्दा करता हूँ; क्योंकि आप बुरे मार्गमें स्थित बुद्धिवाले हैं।'

इन वचनोंसे पता लगता है कि महाराज श्रीरामचन्द्रजी नास्तिकवादको कितना बुरा समझते थे। नास्तिकवादकी निन्दामें अपने उन पिताके कार्यकी भी निन्दा की, जिनके वचनोंकी रक्षाके लिये आज वनमें बस रहे हैं।

अन्तमें जाबालि मुनिके यह कहनेपर कि मैं नास्तिक नहीं हूँ, मैंने तो केवल आपको लौटानेके लिये तर्कके तौरपर ये बातें कही थीं। यह मेरा मत नहीं है और गुरु वसिष्ठजीके द्वारा जाबालिजीके इस कथनका समर्थन होनेपर भगवान् श्रीरघुनाथजी शान्त हुए।

भगवान् श्रीरामजीके सभी भाव विलक्षण हैं। आपका जन्म, बालभाव, कुमारभाव, मिथिलाका मधुरभाव, वनका तापसभाव, लंकाका वीरभाव, राजभाव, प्रेमभाव सभी आदर्श और महान् अनुकरणीय हैं। आपके आदर्श जीवनसे जो लाभ नहीं उठाता, वह बड़ा ही मन्दभागी है।

श्रीरामचन्द्रजीके सभी गुण और आचरण आदर्श हैं। उनमें एक भी ऐसी बात नहीं है जो परम आदर्श और अनुकरण करने योग्य न हो। कहीं कोई बात असङ्गत या अपने मनके प्रतिकूल प्रतीत होती है तो उसमें प्रधान कारण है श्रद्धाकी कमी। श्रद्धा कम होनेसे भगवान्‌के तत्त्व, रहस्य, गुण और प्रभावका ज्ञान नहीं होता; इसी कारण उनकी लीलामें भ्रमवश मनमें शङ्का हो जाती है। कोई लीला न समझमें आवे तो उसके अतिरिक्त अन्यान्य आचरणोंका अनुकरण और उनके उपदेशोंका पालन अवश्य ही करना चाहिये। भगवान्‌ने अपने भाइयोंको तथा प्रजाको जो परम सुन्दर उपदेश दिये हैं, उनका अक्षरशः पालन करनेकी चेष्टा करनी चाहिये और प्रभुकी आज्ञा या उनके आचरणके अनुसार यत्किञ्चित् भी चेष्टा होने लगे तो इसमें प्रभुकी ही

कृपा समझनी चाहिये तथा भगवान्‌की इस कृपाका बारंबार लक्ष्य और अनुभव करते हुए क्षण-क्षणमें मुग्ध होना चाहिये। महाराजकी प्रत्येक लीलामें प्रेम, दया, क्षमा, सत्य आदि गुण भरे हैं; उनका अपरिमित प्रभाव सब लीलाओंमें व्याप्त है—यह निश्चय करके प्रत्येक क्रियामें उनके आदर्श व्यवहार, उनके महान् गुण, उनके प्रभाव, तत्त्व और रहस्यका चिन्तन करते हुए तथा उनकी अमृतमय रूपलावण्ययुक्त मनोमोहिनी मूर्तिका प्रत्यक्षवत् ध्यान रखते हुए सदा प्रसन्न होना चाहिये। वे पुरुष धन्य हैं जो साक्षात् पूर्णब्रह्म परमेश्वर मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी महाराजके नाम, रूप, गुण, चरित्र, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझ-समझकर प्रेम और आनन्दमें तन्मय हुए संसारमें उनका अनुकरण करते हुए विचरते हैं। वह पृथ्वी धन्य है जहाँ ऐसे पुरुष निवास करते हैं। ऐसे साक्षात् कल्याणमय पुरुषोंका जो दर्शन, भाषण, स्पर्श, स्मरण और सङ्ग लाभ करते हैं, वे भी पवित्र हो जाते हैं। ऐसे पुरुषोंके जहाँ चरण टिकते हैं, वह देश तीर्थ बन जाता है और वहाँ प्रेम, आनन्द और शान्तिका स्रोत बहने लगता है। वह कुल धन्य, जगत्पूज्य और परमपवित्र है जहाँ ऐसे भगवत्परायण पुरुषरत्न उत्पन्न होते हैं। भगवान् शिवजी महाराज कहते हैं—

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत॥

(रा० च० मा०, उत्तर० १२७)

श्रद्धा-विश्वास, मिलनकी तीव्र इच्छा और निर्भरता

आस्तिकभाव या भगवान्‌की सत्तामें विश्वास

भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान न होनेपर भी भगवान्‌की सत्ता (होनेपन) में जो विश्वास है, उससे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है; किंतु यह विश्वास पूर्णतया होना चाहिये। मनुष्यके मनमें भगवान्‌के अस्तित्वका विश्वास ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-ही-त्यों वह भगवान्‌के समीप पहुँचता जाता है। किसीको भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार किसी भी स्वरूपका वास्तविक अनुभव नहीं है; किंतु यह विश्वास है कि भगवान् हैं और वे सब जगह व्यापक हैं; वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परम प्रेमी और परम दयालु हैं, वे पतितपावन और अन्तर्यामी हैं; हम जो कुछ कर रहे हैं, उसे भगवान् देख रहे हैं, जो कुछ बोल रहे हैं, उसे वे सुन रहे हैं तथा जो कुछ हमारे हृदयमें है, उसे भी वे जान रहे हैं। इस प्रकार विश्वास हो जानेपर उस साधकके द्वारा झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, हिंसा, व्यभिचार आदि भगवान्‌के विपरीत आचरण नहीं हो सकते। इस विश्वासकी उत्तरोत्तर वृद्धि होनेपर विरुद्ध आचरणकी तो बात ही क्या है, उसके द्वारा यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, सेवा, जप, ध्यान, पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थना, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि जो कुछ होता है, वह भगवान्‌के अनुकूल और उनकी प्रसन्नताके लिये ही होता है। उसके हृदयमें क्षमा, दया, शान्ति, समता, सरलता, संतोष, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि भाव भगवान्‌के अनुकूल और उत्तम-से-उत्तम होते हैं। भगवान्‌के अस्तित्वमें जो भक्तिपूर्वक विश्वास है, इसीका नाम 'श्रद्धा' है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझनेसे जब साधककी भगवान्‌में परम श्रद्धा हो जाती

है, तब उसके हृदयमें प्रसन्नता और शान्ति उत्तरोत्तर बढ़ते चले जाते हैं। कभी-कभी तो शरीरमें रोमाञ्च और नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगते हैं तथा हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। कभी-कभी विरहकी व्याकुलतामें वह अधीर-सा हो जाता है। उसके हृदयमें यह भाव आता है कि जब भगवान् हैं तो हम उनसे वञ्चित क्यों ? भगवान्‌की ओरसे तो कोई कमी है ही नहीं, जो कुछ विलम्ब होता है, वह हमारे साधनकी कमीके कारण ही होता है और उस साधनकी कमीमें हेतु है विश्वासकी कमी तथा विश्वासकी कमीमें हेतु है अज्ञता यानी मूर्खता।

अतएव हमको यह विश्वास बढ़ाना चाहिये कि भगवान् निश्चय हैं, वे अबतक बहुतोंको मिल चुके हैं, वर्तमानमें मिलते हैं एवं मनुष्यमात्रका उनकी प्राप्तिमें अधिकार है। अपात्र होनेपर भी दयामय भगवान्‌ने मुझको मनुष्य-शरीर देकर अपनी प्राप्तिका अधिकार दिया है। ऐसे अधिकारको पाकर मैं भगवान्‌की प्राप्तिसे वञ्चित रहूँ तो यह मेरी मूर्खता है तथा यह मेरे लिये बहुत ही लज्जा और दुःखकी बात है। बार-बार इस प्रकार सोचने-समझनेपर भगवान्‌के होनेपनमें उत्तरोत्तर भक्तिपूर्वक विश्वास बढ़ता चला जाता है, जिससे उसके मनमें भगवान्‌को प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षाका उदय हो जाता है, तदनन्तर आकाङ्क्षामें तीव्रता आते-आते उसको भगवान्‌का न मिलना असह्य हो जाता है, अतएव वह फिर भगवान्‌की प्राप्तिसे वञ्चित नहीं रहता। तीव्र इच्छा उत्पन्न होनेपर भगवान् उससे मिले बिना रह नहीं सकते। जो भगवान्‌से मिलनेके लिये अत्यन्त आतुर हो जाता है, उसके लिये एक क्षणका भी विलम्ब भगवान् कैसे कर सकते हैं। अतएव भगवान्‌के अस्तित्वमें विश्वास उत्तरोत्तर तीव्रताके साथ बढ़ाना चाहिये। इस भक्तिपूर्वक विश्वासकी पूर्णता ही परम श्रद्धा है। परम श्रद्धाके उदय

होनेके साथ ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है, फिर एक क्षणका भी विलम्ब नहीं हो सकता। हमारे श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही भगवान्‌की प्राप्तिमें विलम्ब होनेका एकमात्र कारण है।

शास्त्र और महात्माओंपर श्रद्धा

शास्त्र और महात्माओंपर विश्वास होनेपर भी परमात्माकी प्राप्ति शीघ्रातिशीघ्र हो सकती है। शास्त्र कहते हैं कि 'भगवान् हैं और महात्मा भी कहते हैं कि भगवान् हैं।' शास्त्रके वचनोंसे भी महात्माके वचन विशेष बलवान् हैं; क्योंकि महात्मा तो परमात्माका साक्षात्कार करके ही कहते हैं कि 'भगवान् हैं।' महात्मा जो कहते हैं, सत्य ही कहते हैं। जो झूठ बोलते हैं, वे तो महात्मा ही नहीं। यदि महात्मा यह कहते हैं कि 'भगवान् हैं' और इस विषयमें शास्त्र प्रमाण है, तो इस प्रकारका महात्माका वचन तो शास्त्रके समान ही है, किंतु शास्त्रका प्रमाण न देकर यदि महापुरुष कहें कि 'भगवान् निश्चय हैं' तो यह वचन और भी बलवान् है, शास्त्रके प्रमाणसे भी बढ़कर है; क्योंकि बिना प्रत्यक्ष किये महात्मा ऐसा नहीं कहते।

अतएव महात्माके मनके अनुसार चलनेवालेका कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है, उनके संकेत (इशारे) और आदेशके अनुसार आचरण करनेपर भी निश्चय ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। जब कि शास्त्रके अनुकूल चलनेसे भी कल्याण हो जाता है तो फिर महापुरुषोंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेसे या उनका अनुकरण करनेसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है, किंतु महात्माके वचनोंमें परम श्रद्धा होनी चाहिये। मान लीजिये, किसी महात्माने किसी श्रद्धा दिखानेवाले पुरुषसे कहा कि 'अमुक संस्थामें एक बोरा गेहूँ और दस कम्बल भिजवा दो।' इसपर उस श्रद्धालुने अपनी बुद्धि लगाकर

उत्तर दिया कि 'इस समय न तो कम्बलका मौसम है, न उनकी माँग है और न आवश्यकता ही है।' तब महात्मा बोले—'अच्छी बात है, गेहूँ ही भिजवा दो।' श्रद्धालुने कहा—'अभी यहाँ गेहूँके दाम महँगे हैं, पाँच दिनों बाद दाम कम हो जायँगे; दूसरे प्रदेशोंमें बाजार गिर गया है और यहाँ भी गिरनेवाला है; अतएव भाव गिरनेपर भेज देंगे।' इसपर महात्माने कहा—'बहुत अच्छा। तुम जैसे ठीक समझो, वैसे कर सकते हो।' इसका नाम 'श्रद्धा' नहीं है; क्योंकि यहाँ वह श्रद्धालु महात्माके आदेशका श्रद्धापूर्वक ज्यों-का-त्यों पालन न करके अपनी बुद्धिसे काम लेता है और महात्मा अपनी स्वाभाविक उदारतासे उसमें सहमत हो जाते हैं। ऐसी परिस्थितिमें श्रद्धालुकी जो श्रद्धा होती है, उस श्रद्धाका कोई मूल्य नहीं तथा महात्माकी आज्ञा यदि श्रद्धाके अनुकूल पड़ती है और श्रद्धालु उसे मान लेता है, तो यह भी श्रद्धालु नहीं है। एवं महात्माकी आज्ञा श्रद्धालुके मनके विपरीत प्रतीत हो, परंतु वह मन मारकर उसे मान ले तो यह भी श्रद्धा नहीं है। मनके विपरीत होनेपर भी महात्माकी आज्ञाको श्रद्धालु प्रसन्नतासे पालन करता है, जैसे राजा युधिष्ठिर आदि पाँचों भाइयोंने द्रौपदीके साथ विवाह करनेके विषयमें माता कुन्तीके वचन लोकविरुद्ध और शास्त्रविरुद्ध होनेपर भी प्रसन्नता और आग्रहके साथ उनका अनुसरण किया था— इसका नाम 'श्रद्धा' है।

वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डमें लिखा है कि वनगमनके समय भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराज माता कौशल्याके पास गये और उन्होंने पिताकी आज्ञासे वनमें जानेकी बात कही। तब माता कौशल्याने कहा— 'पिताकी आज्ञा वनमें जानेकी है, किंतु मेरी आज्ञा है, तुम वनमें मत जाओ।' यह सुनकर भगवान् रामने कहा—'पिताकी आज्ञाका

उल्लङ्घन करनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं है। अतः मैं वन जाना चाहता हूँ। इसके लिये कृपया आप मुझे अनुमति दें।' इसपर कौशल्या बोली—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० ५५। १)

भगवान् रामकी दशरथजीमें जो यह श्रद्धा है, यह 'परम श्रद्धा' है।

आयोदधौम्य मुनिने एक दिन अपने शिष्य आरुणिसे कहा—'तुम खेतमें जाकर नीचे बहे जानेवाले जलको रोक दो।' उसने वहाँ जाकर उस जलको मिट्टीसे रोकनेकी बहुत चेष्टा की, किंतु उसे सफलता नहीं हुई। वह मिट्टीकी मेंड बनाता और जलका प्रबल प्रवाह उसे बहा देता। जब प्रवाह रुका ही नहीं, तब आरुणि स्वयं वहाँ लेट गया, जिससे जलका बहना बंद हो गया। तदनन्तर कुछ समय बीतनेपर गुरुजीने शिष्योंसे पूछा—'आरुणि कहाँ गया?' उन्होंने कहा—'आपने ही तो खेतका पानी रोकनेके लिये उसे भेजा है।' यह सुनकर आयोदधौम्य मुनि बोले—'अभीतक आरुणि लौटकर नहीं आया, अतः चलो हम सब भी वहीं चलें।' तदनन्तर वे उसी समय शिष्योंको साथ लेकर वहाँ पहुँचे, जहाँ आरुणि स्वयं मेंड़ बनकर जलको रोके हुए था। मुनिने कहा—'वत्स आरुणि! तुम कहाँ हो, यहाँ आओ।' यह सुनकर आरुणि उठकर गुरुके पास आया और हाथ जोड़कर कहने लगा—'आपकी आज्ञासे मैंने जल रोकनेका प्रयत्न किया, किंतु जब जल न रुका तो मैंने स्वयं ही लेटकर जलको रोक रखा था। आपके वचन सुनकर अब मैं वहाँसे उठकर आ गया हूँ और आपको प्रणाम करता हूँ, अब आपकी क्या आज्ञा है? जलको रोके रखूँ या दूसरा कोई कार्य

करूँ ? गुरुजीने कहा—'तुम बाँधका उद्दलन करके निकले हो, अतः तुम 'उद्दालक' नामसे प्रसिद्ध होओगे।' फिर आचार्यने कृपापूर्वक कहा—'तुमने मेरे वचनोंका पालन किया है, इसलिये तुम कल्याणको प्राप्त होओगे और सम्पूर्ण वेद तथा समस्त धर्मशास्त्र तुम्हारे लिये स्वतः ही प्रकाशित हो जायँगे।' गुरुजीका वरदान पाकर आरुणि अपने देशको लौट गये। श्रद्धाके प्रभावसे उन्हें बिना ही पढ़े सारे वेदोंका ज्ञान हो गया। (महा०, आदि० ३। २१—३३)

श्रीहारिद्रुमत गौतम नामके एक ऋषि थे। उनके पास जबालाका पुत्र सत्यकाम गया और बोला—'मैं ब्रह्मचर्यपूर्वक आपकी सेवामें रहना चाहता हूँ।' गौतमने पूछा—'तुम्हारा गोत्र क्या है ?' उसने उत्तर दिया—'मैंने अपनी माँसे पूछा था तो माँने कहा कि 'मैं तुम्हारे पिताकी सेवा किया करती थी, गोत्रका मुझे ज्ञान नहीं है। तेरा नाम सत्यकाम है और मेरा नाम जबाला है।' यह सुनकर गौतम बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'तुम ब्राह्मण हो; क्योंकि तुम सत्य बोल रहे हो। आजसे तुम्हारी माँके नामसे तुम्हारा गोत्र होगा।' तत्पश्चात् उसे शिष्य स्वीकार करके गौतमने कहा—'तुम समिधा ले आओ, मैं तुम्हारा उपनयन कर दूँगा।' फिर उन्होंने चार सौ गायें अलग करके कहा—'तुम इनके पीछे-पीछे जाओ।' तब उन्हें ले जाते समय सत्यकाम बोला—'इनकी एक हजार संख्या हुए बिना मैं नहीं लौटूँगा।' इस प्रकार कहकर वह वनमें चला गया और वहीं वर्षोंतक रहा। जब वे एक हजारकी संख्यामें हो गयीं, तब एक बैलने कहा—'अब हमारी संख्या एक हजार पूरी हो गयी, तुम हमें गुरुके पास ले चलो।' वह गायोंको लेकर गुरुके समीप पहुँचनेके लिये चला। वहीं रास्तेमें उसको साँडके द्वारा ब्रह्मके प्रथम पादका, अग्निके द्वारा द्वितीय

पादका, हंसके द्वारा तृतीय पादका और मद्गुके द्वारा चतुर्थ पादका उपदेश प्राप्त हो गया। इस प्रकार अनायास ब्रह्मका उपदेश प्राप्तकर वह ब्रह्मज्ञानी हो गया। जब वह गायोंको लेकर गुरुके पास पहुँचा, तब उसके चेहरेकी चमक और शान्तिको देखकर गौतमने कहा— 'सत्यकाम ! तुम्हारा चेहरा देखनेसे प्रतीत होता है, मानो तुम्हें ब्रह्मका ज्ञान हो गया है।' सत्यकाम बोला— 'ठीक है। किंतु फिर भी मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ।' तब गुरुने भी उसे उपदेश दिया। (छान्दोग्य० ४। ४—९) यह है उच्चकोटिकी श्रद्धा।

अपने मनके विपरीत भी गुरुके आदेशको प्रसन्नताके साथ काममें लाया जाता है, यह श्रद्धा है और अपने मनके अत्यन्त विपरीत आदेश सुनकर भी उसके अनुसार करनेमें अतिशय प्रसन्नता हो अर्थात् इधर गुरुकी आज्ञाकी विपरीतताकी भी कोई सीमा नहीं और उधर उसका पालन करनेमें प्रसन्नताकी भी कोई सीमा नहीं। तात्पर्य यह कि विपरीत-से-विपरीत आज्ञाके पालनके समय प्रसन्नता, शान्ति आदि उत्तरोत्तर इतनी अधिक बढ़ती जाती है कि हृदयमें हर्ष, प्रफुल्लता और शरीरमें रोमाञ्च, अश्रुपात आदिकी सीमा नहीं रहती, बल्कि वे अनवरत बढ़ते ही जाते हैं। यह है परम श्रद्धा।

उपर्युक्त भावसे भावित हो प्रभुके मनके, संकेतके या आज्ञाके अनुसार करनेवालेका शीघ्रातिशीघ्र कल्याण हो जाता है, इसमें कोई शंकाकी बात नहीं।

इसी प्रकार शास्त्रकी आज्ञाके पालनके विषयमें भी ऐसा भाव हो तो उसे शास्त्रमें परम श्रद्धा समझना चाहिये।

ईश्वरके मिलनकी तीव्र इच्छा

एक भाई दुर्गुण और दुराचारसे युक्त है, किंतु ईश्वरके मिलनेकी

महिमाको सुनकर उसके मनमें ईश्वरसे मिलनेकी तीव्र इच्छा जाग उठी; ऐसी परिस्थितिमें भगवान् उसके दुर्गुण और दुराचारोंकी ओर ध्यान न देकर उसे अविलम्ब दर्शन दे सकते हैं। कोई दो-तीन सालका छोटा बालक मल-मूत्रसे भरा है और माताके लिये अत्यन्त व्याकुल है। स्नेहमयी माता अपने उस हृदयके टुकड़ेको जलसे शुद्ध करके हृदयसे लगाना चाहती है, किंतु बालक इतना आतुर है कि विलम्ब सहन नहीं कर सकता। उसे इस बातका ज्ञान ही नहीं है कि मल-मूत्रसे लथपथ होनेके कारण मुझको माँ हृदयसे लगानेमें विलम्ब कर रही है, वह तो मातासे मिलनेके लिये अतिशय करुणाभावसे व्याकुल हो फूट-फूटकर रोता है। ऐसी परिस्थितिमें माता उसकी अतिशय व्याकुलताको देखकर स्नेहके कारण उसे हृदयसे लगा लेती है। पर भगवान्का स्नेह तो अनन्त माताओंसे बढ़कर है, फिर वे विलम्ब कैसे कर सकते हैं। स्नेहके कारण जब भक्तके हृदयमें प्रभुसे मिलनेकी लालसा अत्यन्त बढ़ जाती है, तब भगवान् उसके दुर्गुण-दुराचाररूप दोषोंकी ओर देखकर भी विलम्ब नहीं करते।

माता तो बच्चेके मल-मूत्रकी सफाई करनेमें कुछ विलम्ब भी कर सकती है; किंतु भगवान्की दृष्टिमें तो उस साधकके दुर्गुण-दुराचार रह ही नहीं जाते, तब वे कैसे विलम्ब कर सकते हैं ? पर साधकके हृदयमें मिलनकी इच्छा अत्यन्त तीव्र होनी चाहिये, फिर वह कैसा भी दुराचारी क्यों न हो। भगवान् तो केवल एक तीव्र प्रेम और मिलनकी तीव्र लालसाको ही देखते हैं और कुछ नहीं। तथा भगवान्को प्राप्त कर लेनेके साथ ही दुर्गुण-दुराचारोंका विनाश हो जाता है।

अतएव हमलोगोंके हृदयमें भगवान्से मिलनेकी उत्कट इच्छा और परम प्रेम हो, इसके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

भगवान्‌पर निर्भरता

बिल्लीका बच्चा जैसे अपनी माँपर निर्भर करता है, हमें उससे भी बढ़कर भगवान्‌पर निर्भर होना चाहिये। दो सालका छोटा बालक थोड़ी देरके लिये भी माँको छोड़ना नहीं चाहता, वह माँके ही भरोसे रहता है। माँ चाहे मारे, चाहे पाले। वह माँके सिवा दूसरेको नहीं जानता। वह तो एक माँपर ही पूर्णतया निर्भर है। इसी प्रकार कल्याणकामीको अपने कल्याणके लिये भगवान्‌पर निर्भर होना चाहिये। भगवान् तारें, चाहे मारें! उसमें कुछ भी विचार न करे— केवल भगवान्‌के ही भरोसे रहे। भगवान्‌के विधानके अनुसार सुख-दुःख आदि जो कुछ प्राप्त होते हैं, उनको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार मानकर हर समय प्रसन्न रहना चाहिये और अपनेद्वारा होनेवाले कार्योंमें ऐसा समझना चाहिये कि हमारे सारे कर्म भगवान् जैसे करवाते हैं, वैसे ही होते हैं; किंतु इस विषयमें अकर्मण्यता (कर्म करनेमें जी चुराना) और सकाम कर्म तथा शास्त्रविपरीत कर्म यदि होते हों तो यह समझना चाहिये कि हमारे कर्मोंमें भगवान्‌का हाथ नहीं है, कामका हाथ है; क्योंकि जहाँ भगवान्‌का हाथ है, वहाँ कर्तव्यकर्मकी अवहेलना नहीं हो सकती और कामनाका अभाव होनेके कारण सकाम कर्म भी नहीं होते; तो फिर पापकर्म तो हो ही कैसे सकते हैं। यदि हों तो समझना चाहिये कि वहाँ कामका हाथ है।

गीतामें अर्जुनने पूछा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(३।३६)

'हे कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी

बलात् लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ?'

इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

(३ । ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तुम इस विषयमें वैरी जानो ।'

'भगवान्‌पर निर्भरता' का यह अर्थ नहीं कि वह बालककी भाँति सर्वथा कर्मोंका त्याग कर देता है । बालकको ज्ञान नहीं है, इसलिये उसके लिये कर्तव्य लागू नहीं पड़ता; किंतु जिसको ज्ञान है, वह सर्वथा कर्म छोड़कर बैठे तो वह भगवान्‌पर निर्भरता नहीं, वरं अकर्मण्यता, प्रमाद है । जो भगवान्‌पर निर्भर हो जाता है, वह चिन्ता, शोक, भय, ईर्ष्या, उद्वेग आदि दुर्गुणोंसे रहित हो जाता है । उसमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, शान्ति, संतोष, सरलता आदि गुण स्वयमेव आ जाते हैं ।

अतएव भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भगवान्‌के शरण होकर नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नाम और रूपका स्मरण करते हुए उसपर सर्वथा निर्भर रहना चाहिये । भगवान् जो कुछ कर रहे हैं, उसको उनकी लीला समझकर देखता रहे और उसीमें आनन्द माने ।

ईश्वर-साक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि साधन है

वास्तवमें नामकी महिमा वही पुरुष जान सकता है, जिसका मन निरन्तर श्रीभगवन्नाममें संलग्न रहता है, नामकी प्रिय और मधुर स्मृतिसे जिसके क्षण-क्षणमें रोमाञ्च और अश्रुपात होते हैं, जो जलके वियोगमें मछलीकी व्याकुलताके समान क्षणभरके नाम-वियोगसे भी विकल हो उठता है, जो महापुरुष निमेषमात्रके लिये भी भगवान्‌के नामको नहीं छोड़ सकता और जो निष्कामभावसे निरन्तर प्रेमपूर्वक जप करते-करते उसमें तल्लीन हो चुका है। ऐसा ही महात्मा पुरुष इस विषयके पूर्णतया वर्णन करनेका अधिकारी है और उसीके लेखसे संसारमें विशेष लाभ पहुँच सकता है।

यद्यपि मैं एक साधारण मनुष्य हूँ, उस अपरिमित गुणनिधान भगवान्‌के नामकी अवर्णनीय महिमाका वर्णन करनेका मुझमें सामर्थ्य नहीं है, तथापि अपने कतिपय मित्रोंके अनुरोधसे मैंने कुछ निवेदन करनेका साहस किया है। अतएव इस लेखमें जो कुछ त्रुटियाँ रही हों उनके लिये आपलोग क्षमा करें।

महिमाका दिग्दर्शन

भगवन्नामकी अपार महिमा है, सभी युगोंमें इसकी महिमाका विस्तार है। शास्त्रों और साधु-महात्माओंने सभी युगोंके लिये मुक्तकण्ठसे नाम-महिमाका गान किया है, परन्तु कलियुगके लिये तो इसके समान मुक्तिका कोई दूसरा उपाय ही नहीं बतलाया गया। यथा—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(नारदपु० १।४१।११५)

'कलियुगमें केवल श्रीहरिनाम ही कल्याणका परम साधन है, इसको छोड़कर दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।'

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

(श्रीमद्भा० १२।३।५२)

'सत्ययुगमें भगवान् विष्णुके ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञोंसे, द्वापरमें भगवान्‌की सेवा-पूजा करनेसे जो फल होता है, कलियुगमें केवल हरिके नाम-संकीर्तनसे वही फल प्राप्त होता है।'

कलिजुग केवल नाम अधारा। सुमिरि सुमिरि भव उतरहु पारा॥
कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

(रा० च० मा०, उत्तर० १०३ क)

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥
सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहुँ किए मन मीन॥
सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ॥

(रा० च० मा०, बाल० २१, २२,२४)

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ७८ क, १२२ क)

नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥
चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥
कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

(रा० च० मा०, बाल० २३। १; २५। २, ३,४; २६। १)

नाम-महिमामें प्रमाणोंका पार नहीं है। हमारे शास्त्र इससे भरे पड़े हैं, परन्तु अधिक विस्तारभयसे यहाँ इतने ही लिखे जाते हैं। संसारमें जितने मत-मतान्तर हैं, प्रायः सभी ईश्वरके नामकी महिमाको स्वीकार करते और गाते हैं। अवश्य ही रुचि और भावके अनुसार नामोंमें भिन्नता रहती है, परन्तु परमात्माका नाम कोई-सा भी क्यों न हो, सभी एक-सा लाभ पहुँचानेवाले हैं। अतएव जिसको जो नाम रुचिकर प्रतीत हो वह उसीके जपका ध्यानसहित अभ्यास करे।

मेरा अनुभव

कुछ मित्रोंने मुझे इस विषयमें अपना अनुभव लिखनेके लिये अनुरोध किया है, परंतु जब कि मैंने भगवन्नामका विशेष संख्यामें जप ही नहीं किया तब मैं अपना अनुभव क्या लिखूँ? भगवत्कृपासे जो कुछ यत्किञ्चित् नामस्मरण मुझसे हो सका है उसका माहात्म्य भी पूर्णतया लिखा जाना कठिन है।

नामका अभ्यास मैं लड़कपनसे ही करने लगा था। जिससे शनैः-शनैः मेरे मनकी विषयवासना कम होती गयी और पापोंसे हटनेमें मुझे बड़ी सहायता मिली। काम-क्रोधादि अवगुण कम होते गये, अन्तःकरणमें शान्तिका विकास हुआ। कभी-कभी नेत्र बंद करनेसे

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका अच्छा ध्यान भी होने लगा। सांसारिक स्फुरणा बहुत कम हो गयी। भोगोंमें वैराग्य हो गया। उस समय मुझे वनवास या एकान्त स्थानका रहन-सहन अनुकूल प्रतीत होता था।

इस प्रकार अभ्यास होते-होते एक दिन स्वप्नमें श्रीसीताजी और लक्ष्मणजीसहित भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन हुए और उनसे बातचीत भी हुई। श्रीरामचन्द्रजीने वर माँगनेके लिये मुझसे बहुत कुछ कहा पर मेरी इच्छा माँगनेकी नहीं हुई, अन्तमें बहुत आग्रह करनेपर भी मैंने इसके सिवा और कुछ नहीं माँगा कि 'आपसे मेरा वियोग कभी न हो।' यह सब नामका ही फल था।

इसके बाद नामजपसे मुझे और भी अधिक लाभ हुआ, जिसकी महिमा वर्णन करनेमें मैं असमर्थ हूँ। हाँ, इतना अवश्य कह सकता हूँ कि नामजपसे मुझे जितना लाभ हुआ है, उतना श्रीमद्भगवद्गीताके अभ्यासको छोड़कर अन्य किसी भी साधनसे नहीं हुआ।

जब-जब मुझे साधनसे च्युत करनेवाले भारी विघ्न प्राप्त हुआ करते थे, तब-तब मैं प्रेमपूर्वक भावनासहित नामजप करता था और उसीके प्रभावसे मैं उन विघ्नोंसे छुटकारा पाता था। अतएव मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि साधन-पथके विघ्नोंको नष्ट करने और मनमें होनेवाली सांसारिक स्फुरणाओंका नाश करनेके लिये स्वरूप-चिन्तनसहित प्रेमपूर्वक भगवन्नाम-जप करनेके समान दूसरा कोई साधन नहीं है। जब कि साधारण संख्यामें भगवन्नामका जप करनेसे ही मुझे इतनी परम शान्ति , इतना अपार आनन्द और इतना अनुपम लाभ हुआ है जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता, तब जो पुरुष भगवन्नामका निष्कामभावसे ध्यानसहित नित्य-निरन्तर जप करते हैं, उनके आनन्दकी महिमा तो कौन कह सकता है ?

नामजप किसलिये करना चाहिये ?

श्रुति कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

(कठ० १।२।१६)

'यह ओंकार अक्षर ही ब्रह्म है, यही परब्रह्म है, इसी ओंकाररूप अक्षरको जानकर जो मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है उसको वही मिलती है।'

श्रुतिके इस कथनके अनुसार कल्पवृक्षरूप भगवद्भजनके प्रतापसे जिस वस्तुको मनुष्य चाहता है, उसे वही मिल सकती है। परन्तु आत्माका कल्याण चाहनेवाले सच्चे प्रेमी भक्तोंको तो निष्कामभावसे ही भजन करना चाहिये। शास्त्रोंमें निष्काम प्रेमी भक्तकी ही अधिक प्रशंसा की गयी है। भगवान्‌ने भी कहा है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७।१६-१७)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करनेवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी अर्थात् निष्कामी—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं। उनमें नित्य मेरेमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

इस प्रकार निष्काम प्रेमपूर्वक होनेवाले भगवद्भजनके प्रभावको

जो मनुष्य जानता है, वह एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को नहीं भूलता और भगवान् भी उसको नहीं भूलते। भगवान्‌ने स्वयं कहा भी है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है; क्योंकि वह मुझमें एकीभावसे नित्य स्थित है।'

भला, सच्चा प्रेमी क्या अपने प्रेमास्पदको छोड़कर कभी दूसरेको मनमें स्थान दे सकता है ? जो भाग्यवान् पुरुष परम सुखमय परमात्माके प्रभावको जानकर उसे ही अपना एकमात्र प्रेमास्पद बना लेते हैं, वे तो अहर्निश उसीके प्रिय नामकी स्मृतिमें तल्लीन रहते हैं, वे दूसरी वस्तु न कभी चाहते हैं और न उन्हें सुहाती ही है।

अतएव जहाँतक ऐसी अवस्था न हो वहाँतक ऐसा अभ्यास करना चाहिये। नामोच्चारण करते समय मन प्रेममें इतना मग्न हो जाना चाहिये कि उसे अपने शरीरका भी ज्ञान न रहे। भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी विशुद्ध प्रेम-भक्ति और भगवत्-साक्षात्कारिताके सिवा अन्य किसी भी सांसारिक वस्तुकी कामना, याचना या इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये।

निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक विधिसहित जप करनेवाला साधक बहुत शीघ्र अच्छा लाभ उठा सकता है।

यदि कोई शङ्का करे कि बहुत लोग भगवन्नामका जप किया करते हैं, परन्तु उनके कोई विशेष लाभ होता हुआ नहीं देखा जाता, तो इसका

उत्तर यह हो सकता है कि उन लोगोंने या तो विधिसहित जपका अभ्यास ही नहीं किया होगा या अपने जपरूप परमधनके बदलेमें तुच्छ सांसारिक भोगोंको खरीद लिया होगा, नहीं तो उन्हें अवश्य ही विशेष लाभ होता, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इसलिये नामजप किसी प्रकारकी भी छोटी-बड़ी कामनाके लिये न करके केवल भगवान्‌के विशुद्ध प्रेमके लिये ही करना चाहिये।

नामजप कैसे करना चाहिये ?

महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः ।

(योग० १ । २७)

'उस परमात्माका वाचक अर्थात् नाम ओंकार है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम् ।

(योग० १ । २८)

'उस परमात्माके नामजप और उसके अर्थकी भावना अर्थात् स्वरूपका चिन्तन करना।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।

(योग० १ । २९)

'उपर्युक्त साधनसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि नामजप नामीके स्वरूपचिन्तनसहित करना चाहिये। स्वरूपचिन्तनयुक्त नामजपसे अन्तरायोंका नाश और भगवत्प्राप्ति होती है।

यद्यपि नामी नामके ही अधीन है। श्रीगोस्वामीजी महाराजने कहा है—

देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥

(रा० च० मा०, बाल० २०। २-३)

इसलिये स्वरूपचिन्तनकी चेष्टा किये बिना भी केवल नामजपके प्रतापसे ही साधकको समयपर भगवत्स्वरूपका साक्षात्कार अपने-आप ही हो सकता है, परंतु उसमें विलम्ब हो जाता है। भगवान्‌के मनमोहन स्वरूपका चिन्तन करते हुए जपका अभ्यास करनेसे बहुत ही शीघ्र लाभ होता है; क्योंकि निरन्तर चिन्तन होनेसे भगवान्‌की स्मृतिमें अन्तर नहीं पड़ता।

इसीलिये भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(८। ७)

'अतएव हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन, बुद्धिसे युक्त हुआ तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।' भगवान्‌की इस आज्ञाके अनुसार उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते और प्रत्येक सांसारिक कार्य करते समय साधकको नामजपके साथ-ही-साथ मन, बुद्धिसे भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन और निश्चय करते रहना चाहिये। जिससे क्षणभरके लिये भी उसकी स्मृतिका वियोग न हो।

इसपर यदि कोई पूछे कि किस नामका जप अधिक लाभदायक है? और नामके साथ भगवान्‌के कैसे स्वरूपका ध्यान करना चाहिये? तो इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि परमात्माके अनेक नाम हैं, उनमेंसे जिस साधककी जिस नाममें अधिक रुचि और श्रद्धा हो,

उसे उसी नामके जपसे विशेष लाभ होता है। अतएव साधकको अपनी रुचिके अनुकूल ही भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये। एक बात अवश्य है कि जिस नामका जप किया जाय, स्वरूपका चिन्तन भी उसीके अनुसार होना चाहिये। उदाहरणार्थ—

'**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' इस मन्त्रका जप करनेवालेको सर्वव्यापी वासुदेवका ध्यान करना चाहिये। '**ॐ नमो नारायणाय**' इस मन्त्रका जप करनेवालेको चतुर्भुज श्रीविष्णुभगवान्‌का ध्यान करना चाहिये। '**ॐ नमः शिवाय**' मन्त्रका जप करनेवालेको त्रिनेत्रभगवान् शंकरका ध्यान करना उचित है। केवल ॐकारका जप करनेवालेको सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन शुद्धब्रह्मका चिन्तन करना उचित है। श्रीरामनामका जप करनेवालेको श्रीदशरथनन्दन भगवान् रामचन्द्रजीके स्वरूपका चिन्तन करना लाभप्रद है।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(कलिसं० १)

इस मन्त्रका जप करनेवालेके द्वारा श्रीराम, कृष्ण, विष्णु या सर्वव्यापी ब्रह्म आदि सभी रूपोंका अपनी इच्छा और रुचिके अनुसार ध्यान किया जा सकता है; क्योंकि यह सब नाम सभी रूपोंके वाचक हो सकते हैं।

इन उदाहरणोंसे यही समझना चाहिये कि साधकको गुरुसे जिस नाम-रूपका उपदेश मिला हो, जिस नाम और जिस रूपमें श्रद्धा, प्रेम और विश्वासकी अधिकता हो तथा जो अपनी आत्माके अनुकूल प्रतीत होता हो, उसे उसी नाम-रूपके जप-ध्यानसे अधिक लाभ हो सकता है।

परन्तु नामजपके साथ ध्यान जरूर होना चाहिये। वास्तवमें नामके साथ नामीकी स्मृति होना अनिवार्य भी है। मनुष्य जिस-जिस वस्तुके नामका उच्चारण करता है, उस-उस वस्तुके स्वरूपकी स्मृति उसे एक बार अवश्य होती है और जैसी स्मृति होती है, उसीके अनुसार भला-बुरा परिणाम भी अवश्य होता है। जैसे कोई मनुष्य कामके वशीभूत होकर जब किसी स्त्रीका स्मरण करता है, तब उसकी स्मृतिके साथ ही उसके शरीरमें काम जाग्रत् होकर वीर्यपातादि दुर्घटनाको घटा देता है। इसी प्रकार वीर-रस और करुण-रसप्रधान वृत्तान्तोंकी स्मृतिसे तदनुसार ही मनुष्यकी वृत्तियाँ और उसके भाव बन जाते हैं। साधु पुरुषको याद करनेसे मनमें श्रेष्ठ भावोंकी जागृति होती है और दुराचारीकी स्मृतिसे बुरे भावोंका आविर्भाव होता है। जब लौकिक स्मरणका ऐसा परिणाम अनिवार्य है, तब परमात्माके स्मरणसे परमात्माके भाव और गुणोंका अन्तःकरणमें आविर्भाव हो, इसमें तो सन्देह ही क्या है ?

अतएव साधकको भगवान्‌के प्रेममें विह्वल होकर निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर दिन-रात कर्तव्यकर्मोंको करते हुए भी ध्यानसहित श्रीभगवन्नामजपकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

सत्सङ्गसे ही नामजपमें श्रद्धा होती है !

नामकी इतनी महिमा होते हुए भी प्रेम और ध्यानयुक्त भगवन्नाममें लोग क्यों नहीं प्रवृत्त होते ? इसका उत्तर यह है कि भगवत्-भजनके असली मर्मको वही मनुष्य जान सकता है, जिसपर भगवान्‌की पूर्ण दया होती है।

यद्यपि भगवान्‌की दया तो सदा ही सबपर समान भावसे है, परन्तु जबतक उसकी अपार दयाको मनुष्य पहचान नहीं लेता, तबतक उसे उस दयासे लाभ नहीं होता। जैसे किसीके घरमें गड़ा हुआ धन है,

परन्तु जबतक वह उसे जानता नहीं, तबतक उसे कोई लाभ नहीं होता, परन्तु वही जब किसी जानकार पुरुषसे जान लेता है और यदि परिश्रम करके उस धनको निकाल लेता है तो उसे लाभ होता है। इसी प्रकार भगवान्‌की दयाके प्रभावको जाननेवाले पुरुषोंके सङ्गसे मनुष्यको भगवान्‌की नित्य दयाका पता लगता है, दयाके ज्ञानसे भजनका मर्म समझमें आता है, फिर उसकी भजनमें प्रवृत्ति होती है और भजनके नित्य-निरन्तर अभ्याससे समस्त सञ्चित पाप समूल नष्ट हो जाते हैं और उसे परमात्माकी प्राप्तिरूप पूर्ण लाभ मिलता है।

नाममें पापनाशकी स्वाभाविक शक्ति है

यहाँपर यदि कोई शङ्का करे कि यदि भगवान् भजन करनेवालेके पापोंका नाश कर देते हैं या उसे माफी दे देते हैं तो क्या उनमें विषमताका दोष नहीं आता ? इसका उत्तर यह है कि जैसे अग्निमें जलानेकी और प्रकाश करनेकी शक्ति स्वाभाविक है, इसी प्रकार भगवन्नाममें भी पापोंके नष्ट करनेकी स्वाभाविक शक्ति है। इसीलिये भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(९।२९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परन्तु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं वे मुझमें और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैसे शीतसे व्यथित अनेक पुरुषोंमेंसे जो पुरुष अग्निके समीप जाकर अग्निका सेवन करता है, उसीके शीतका निवारण कर अग्नि उसकी उस व्यथाको मिटा देती है;

परन्तु जो अग्निके समीप नहीं जाते, उनकी व्यथा नहीं मिटती। इससे अग्निमें कोई विषमताका दोष नहीं आता; क्योंकि वह सभीको अपना ताप देकर उनकी व्यथा निवारण करनेको सर्वदा तैयार है। कोई समीप ही न जाय तो अग्नि क्या करे ? इसी प्रकार जो पुरुष भगवान्‌का भजन करता है, उसीके अन्तःकरणको शुद्ध करके भगवान् उसके दुःखोंका सर्वथा नाश करके उसका कल्याण कर देते हैं। इसलिये भगवान्‌में विषमताका कोई दोष नहीं आता।

नाम-भजनसे ही ज्ञान हो जाता है

(शङ्का) यह बात मान ली गयी कि भगवन्नामसे पापोंका नाश होता है, परन्तु परमपदकी प्राप्ति उससे कैसे हो सकती है ? क्योंकि परमपदकी प्राप्ति तो केवल ज्ञानसे होती है।

(उत्तर) यह ठीक है। परमपदकी प्राप्ति ज्ञानसे ही होती है, परन्तु श्रद्धा, प्रेम और विश्वासपूर्वक निष्कामभावसे किये जानेवाले भजनके प्रभावसे भगवान् उसे अपना वह ज्ञान प्रदान करते हैं कि जिससे उसे भगवान्‌के स्वरूपका तत्त्वज्ञान हो जाता है और उससे उस साधकको परमपदकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है। भगवान्‌ने कहा है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०।९—११)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले, मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले

भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं, उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

अतएव निरन्तर प्रेमपूर्वक निष्काम नामजप और स्वरूप-चिन्तनसे स्वतः ही ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और उस ज्ञानसे साधकको सत्वर ही परमपदकी प्राप्ति हो जाती है।

नामकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये

कुछ भाई नामजपके महत्त्वको नहीं समझनेके कारण उसकी निन्दा कर बैठते हैं, वे कहा करते हैं कि—'राम-राम' करना और 'टायँ-टायँ' करना एक समान ही है। साथ ही यह भी कहा करते हैं कि नामजपके ढोंगसे आलसी बनकर अपने जीवनको नष्ट करना है। इसी तरहकी और भी अनेक बातें कही जाती हैं।

ऐसे भाइयोंसे मेरी प्रार्थना है कि बिना जाँच किये ही इस प्रकारसे नामजपकी निन्दा कर जप करनेवालोंके हृदयमें अश्रद्धा उत्पन्न करनेकी बुरी चेष्टा न किया करें, बल्कि कुछ समयतक नामजप करके देखें कि उससे क्या लाभ होता है। व्यर्थ ही निन्दा या उपेक्षा कर पाप-भाजन नहीं बनना चाहिये।

नामजपमें प्रमाद और आलस्य करना उचित नहीं

बहुत-से भाई नामजप या भजनको अच्छा तो समझते हैं; परन्तु

प्रमाद या आलस्यवश भजन नहीं करते। यह उनकी बड़ी भारी भूल है। इस प्रकार दुर्लभ परन्तु क्षणभङ्गुर मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके जो भजनमें आलस्य करते हैं उन्हें क्या कहा जाय ? जीवनका सद्व्यय भजनमें ही है, यदि अभी प्रमादसे इस अमूल्य सुअवसरको खो दिया तो पीछे सिवा पश्चात्तापके और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। कबीरजीने कहा है—

मरोगे मरि जाओगे, कोई न लेगा नाम।
ऊजड़ जाय बसाओगे, छाड़ि बसन्ता गाम॥
आजकालकी पाँच दिन, जंगल होगा बास।
ऊपर ऊपर हल फिरैं, ढोर चरेंगे घास॥
आज कहे मैं काल भजूँ, काल कहे फिर काल।
आजकालके करत ही, औसर जासी चाल॥
काल भजन्ता आज भज, आज भजन्ता अब।
पलमें परलय होयगी, फेर भजेगा कब॥

अतएव आलस्य और प्रमादका परित्याग करके जिस-किस प्रकारसे भी हो, उठते, बैठते, सोते और सम्पूर्ण कर्त्तव्यकर्मोंको करते हुए सदा-सर्वदा भजन करनेका अभ्यास अवश्य करना चाहिये।

'मा' बच्चोंको भुलानेके लिये उनके सामने नाना प्रकारके खिलौने डाल देती है, कुछ खानेके पदार्थ उनके हाथमें दे देती है, जो बच्चे उन पदार्थोंमें रमकर 'मा' के लिये रोना छोड़ देते हैं, 'मा' भी उन्हें छोड़कर अपना दूसरा काम करने लगती है, परन्तु जो बच्चा किसी भी भुलावेमें न भूलकर केवल 'मा-मा' पुकारा करता है, उसे 'मा' अवश्य ही अपनी गोदमें लेनेको बाध्य होती है, ऐसे जिद्दी बच्चेके पास घरके सारे आवश्यक कामोंको छोड़कर भी माको तुरंत आना और उसे अपने

हृदयसे लगाकर दुलारना पड़ता है; क्योंकि माता इस बातको जानती है कि यह बच्चा मेरे सिवा और किसी विषयमें भी नहीं भूलता है।

इसी प्रकार भगवान् भी भक्तकी परीक्षाके लिये उसके इच्छानुसार उसे अनेक प्रकारके विषयोंका प्रलोभन देकर भुलाना चाहते हैं। जो उनमें भूल जाता है, वह तो इस परीक्षामें अनुत्तीर्ण होता है, परन्तु जो भाग्यवान् भक्त संसारके समस्त पदार्थोंको तुच्छ, क्षणिक और नाशवान् समझकर उन्हें लात मार देता है और प्रेममें मग्न होकर सच्चे मनसे उस सच्चिदानन्दमयी मातासे मिलनेके लिये ही लगातार रोया करता है, ऐसे भक्तके लिये सम्पूर्ण कामोंको छोड़कर भगवान्‌को स्वयं तुरंत आना पड़ता है। महात्मा कबीरजी कहते हैं—

केशव केशव कूकिये, न कूकिये असार।
रात दिवसके कूकते, कभी तो सुनें पुकार॥
राम नाम रटते रहो, जबलग घटमें प्रान॥
कबहूँ तो दीनदयालके, भनक परेगी कान॥

इसलिये संसारके समस्त विषयोंको विषके लड्डू समझते हुए उनसे मन हटाकर श्रीपरमात्माके पावन नामके जपमें लग जाना ही परम कर्तव्य है। जो परमात्माके नामका जप करता है, दयालु परमात्मा उसे शीघ्र ही भव-बन्धनसे मुक्त कर देते हैं।

यदि यह कहा जाय कि ईश्वर न्यायकारी हैं, भजनेवालेके ही पापोंका नाश करके उसे परमगति प्रदान करते हैं तो फिर उन्हें दयालु क्यों कहना चाहिये ?

यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। संसारके बड़े-बड़े राजा-महाराजा अपने उपासकोंको बाह्य धनादि पदार्थ देकर सन्तुष्ट करते हैं, परंतु भगवान् ऐसा नहीं करते, उनका तो यह नियम है कि उनको जो जिस

भावसे भजता है उसको वे भी उसी भावसे भजते हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

परमात्मा छोटे-बड़ेका कोई खयाल नहीं करते। एक छोटे-से-छोटा व्यक्ति परमात्माको जिस भावसे भजता है, उनके साथ जैसा बर्ताव करता है, वे भी उसको वैसे ही भजते और वैसा ही बर्ताव करते हैं। यदि कोई उनके लिये रोकर व्याकुल होता है तो वे भी उससे मिलनेके लिये उसी प्रकार अकुला उठते हैं। यह उनकी कितनी दयाकी बात है।

अतएव इस अनित्य, क्षणभङ्गुर, नाशवान् संसारके समस्त मिथ्या भोगोंको छोड़कर उस सर्वशक्तिमान् न्यायकारी शुद्ध परम दयालु सच्चे प्रेमी परमात्माके पावन नामका निष्काम प्रेमभावसे ध्यानसहित सदा-सर्वदा जप करते रहना चाहिये।

संसारके समस्त दुःखोंसे मुक्त होकर ईश्वर-साक्षात्कारके लिये नामजप ही सर्वोपरि युक्तियुक्त साधन है।

सत्सङ्ग और भगवद्भक्तोंके लक्षण, उनकी महिमा, प्रभाव और उदाहरण

'सत्' जो भगवान् हैं, उनके प्रति प्रेम और उनका मिलन ही वास्तविक एवं मुख्य सत्सङ्ग है। भगवत्प्राप्त भक्तों या जीवन्मुक्त ज्ञानी महात्माओंका सङ्ग दूसरी श्रेणीका सत्सङ्ग है। भगवत्प्रेमी उच्चकोटिके साधकोंका सङ्ग तीसरी श्रेणीका सत्सङ्ग है। चौथी श्रेणीमें सत्-शास्त्रोंका अनुशीलन भी सत्सङ्ग है।

सत्स्वरूप भगवान्‌में प्रेम होना और उनका मिलना तो सब साधनोंका फल है तथा जो भगवान्‌को प्राप्त हो चुके हैं और जिनका भगवान्‌में अनन्य प्रेम है, ऐसे भगवत्प्राप्त भक्तोंका मिलन या सङ्ग भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है। वह पुरुष भगवान्‌की कृपाका अधिकारी होता है, जो अपनेपर भगवान्‌की अतिशय कृपा मानता है। वह फिर उस कृपाको तत्त्वसे जानकर परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है (गीता ५। २९)। जिसका भगवान्‌में और उनके भक्तोंमें श्रद्धा, विश्वास और प्रेम होता है एवं जिसके अन्तःकरणमें पूर्वके श्रद्धा-भक्तिविषयक संस्कार संचित हैं, वह भी भगवान्‌की कृपाका अधिकारी होता है।

श्रीरामचरितमानसके सुन्दरकाण्डमें भक्त विभीषणने हनुमान्‌जीसे कहा है—

अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता॥

(सुन्दर० ६। २)

'हे हनुमान्! अब मुझे विश्वास हो गया कि श्रीरामजीकी मुझपर कृपा है; क्योंकि हरिकी कृपाके बिना संत नहीं मिलते।'

श्रीशिवजी भी पार्वतीजीसे कहते हैं—

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान॥

(रा॰ च॰ मा॰, उत्तर॰ १२५ ख)

'हे गिरिजे ! संत-समागमके समान दूसरा कोई लाभ नहीं है। पर वह श्रीहरिकी कृपाके बिना सम्भव नहीं है, ऐसी बात वेद और पुराण कहते हैं।'

पूर्वके उत्तम संस्कारोंके प्रभावसे भी भक्तोंका मिलन होता है। श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने प्रजाको उपदेश देते हुए कहा है—

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥

(४४। ३)

'भक्ति स्वतन्त्र साधन है और सब सुखोंकी खान है। परंतु सत्सङ्गके बिना प्राणी इसे नहीं पा सकते और पुण्यसमूहके बिना संत नहीं मिलते। सत्सङ्गति ही जन्म-मरणके चक्रका अन्त करती है।'

अब ऐसे भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षण बतलाये जाते हैं, जिनको गीतामें स्वयं भगवान्‌ने अपना प्रिय भक्त कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(१२। १३-१४)

'जो पुरुष जीवमात्रके प्रति द्वेषभावसे रहित, सबका स्वार्थरहित

प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे शून्य, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय कर देता है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, जिसने मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें कर लिया है, जिसका मुझमें दृढ़ निश्चय है तथा जिसके मन एवं बुद्धि मुझमें अर्पित हैं, वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

भगवत्प्राप्त भक्तों या जीवन्मुक्त गुणातीत पुरुषोंका सभी प्राणियों एवं पदार्थोंके प्रति समान भाव होता है (गीता १४। २४-२५)। उनका किसीसे भी व्यक्तिगत स्वार्थका सम्बन्ध नहीं होता (गीता ३। १८)। उनका देह या मकान आदिमें ममता, आसक्ति और अभिमानका सर्वथा अभाव होता है (गीता १२। १९)। उनका यावन्मात्र प्राणियोंपर दया और प्रेम रहता है (गीता १२। १३)। एवं उनका सबमें समभाव भी रहता है। उन परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषोंके समभावका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(गीता ५। १८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समान दृष्टि रखते हैं।'

यहाँ भगवान्‌ने ज्ञानीको समदर्शी कहकर यह भाव व्यक्त किया है कि उनका सबके साथ शास्त्रविहित न्याययुक्त व्यवहारका भेद रहते हुए भी सबमें समभाव रहता है। सबके साथ समान व्यवहार तो कोई कर ही नहीं सकता; क्योंकि विवाह या श्राद्धादि कर्म ब्राह्मणसे ही करवाये जाते हैं, चाण्डाल आदिसे नहीं; दूध गायका ही पीया जाता है,

कुतियाका नहीं; सवारी हाथीकी ही की जाती है, गायकी नहीं; पत्ते और घास आदि हाथी और गायको ही खिलाये जाते हैं, कुत्ते या मनुष्योंको नहीं। अतः सबके हितकी ओर दृष्टि रखते हुए ही आदर-सत्कारपूर्वक सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करना ही समव्यवहार है, न कि एक ही पदार्थसे सबकी समान रूपसे सेवा करना। किंतु सबमें व्यवहारका यथायोग्य भेद रहनेपर भी प्रेम और आत्मीयता अपने शरीरकी भाँति सबसे समान होनी चाहिये। जैसे अपने शरीरमें प्रेम और आत्मभाव (अपनापन) समान होते हुए भी व्यवहार अपने ही अङ्गोंके साथ अलग-अलग होता है—जैसे मस्तकके साथ ब्राह्मणके समान, हाथोंके साथ क्षत्रियके समान, जङ्घाके साथ वैश्यके समान, पैरोंके साथ शूद्रके समान एवं गुदा-उपस्थादिके साथ अछूतके समान व्यवहार किया जाता है; उसी प्रकार सबके साथ अपने आत्माके समान समभाव रखते हुए ही यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गीता ६। ३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें समदृष्टि रखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

श्रीरामचरितमानसमें भरतके प्रति संतोंके लक्षण बतलाते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—

बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥

****

सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मयत्री। द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री॥
ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥

(उत्तर० ३७। १—४)

निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥

(उत्तर० ३८)

'संत विषयोंमें लंपट (लिप्त) नहीं होते, वे शील और सद्गुणोंकी खान होते हैं। उन्हें पराया दुःख देखकर दुःख और सुख देखकर सुख होता है। वे सबमें सर्वत्र सब समय समदृष्टि रखते हैं। उनके मनमें उनका कोई शत्रु नहीं होता। वे घमण्डसे शून्य और वैराग्यवान् होते हैं तथा लोभ, क्रोध, हर्ष और भयके त्यागी होते हैं। उनका चित्त बड़ा कोमल होता है। वे दीनोंपर दया करते हैं तथा मन, वचन और कर्मसे मेरी निष्कपट (विशुद्ध) भक्ति करते हैं। सबको सम्मान देते हैं; पर स्वयं मानरहित होते हैं। हे भरत! वे प्राणी (संतजन) मुझे प्राणोंके समान प्यारे होते हैं। उनमें कोई कामना नहीं होती। वे मेरे नामके परायण (आश्रित) होते हैं तथा शान्ति, वैराग्य, विनय और प्रसन्नताके घर होते हैं। उनमें शीतलता, सरलता, सबके प्रति मित्रभाव और ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रीति होती है, जो सम्पूर्ण धर्मोंकी जननी है। हे तात! ये सब लक्षण जिसके हृदयमें बसते हों, उसको सदा सच्चा संत जानना। जिनका मन और इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, जो नियम (सदाचार) और नीति (मर्यादा) से कभी विचलित नहीं होते और

मुखसे कभी कठोर वचन नहीं बोलते, जिन्हें निन्दा और स्तुति दोनों समान हैं और मेरे चरणकमलोंमें जिनकी ममता है, वे गुणोंके धाम और सुखकी राशि संतजन मुझे प्राणोंके समान प्रिय हैं।'

इन लक्षणोंमें बहुत-से तो आन्तरिक होनेके कारण स्वसंवेद्य हैं, अतः उनको वे भक्त स्वयं ही जानते हैं और बहुत-से आचरण ऐसे भी हैं, जिन्हें देखकर दूसरे लोग भी उनकी स्थितिका कुछ अनुमान लगा सकते हैं। किंतु वास्तवमें तो ईश्वर और महात्माओंकी जिनपर कृपा होती है, वे ही उनको जान सकते हैं। जिनके सङ्ग, दर्शन, भाषण और वार्तालापसे अपनेमें भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षणोंका प्रादुर्भाव हो, हमारे लिये तो, वे ही भगवत्प्राप्त संत हैं—यों समझकर उन सत्पुरुषोंसे लाभ उठाना चाहिये। जो सत्पुरुषोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सङ्ग करके उनकी आज्ञाका पालन करता है, वही उनसे विशेष लाभ उठा सकता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(१३।२५)

'दूसरे (मन्दबुद्धि लोग जो ध्यानयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोगकी बात नहीं जानते) इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे—तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निस्संदेह पार कर लेते हैं।'

ऐसे संतोंके सङ्गकी महिमा और प्रभावका वर्णन करते हुए गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥

सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥
बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥
सतसंगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधात सुहाई॥

(रा० च० मा०, बाल० २। ३—५)

'जलमें रहनेवाले, जमीनपर चलनेवाले और आकाशमें विचरने-वाले नाना प्रकारके जड-चेतन जो भी जीव इस जगत्में हैं, उनमेंसे जिसने जिस समय जहाँ कहीं भी जिस किसी उपायसे बुद्धि (ज्ञान), कीर्ति, सद्गति, विभूति (ऐश्वर्य) और भलाई (अच्छापन) पायी है, वह सब सत्सङ्गका ही प्रभाव समझना चाहिये। वेदोंमें और लोकमें भी उनकी प्राप्तिका दूसरा कोई साधन नहीं है। सत्सङ्गके बिना विवेक (सत्-असत्की पहचान) नहीं होता और श्रीरामचन्द्रजीकी कृपाके बिना वह सत्सङ्ग सहजमें मिलता नहीं। सत्सङ्गति आनन्द और कल्याणकी जड़ है। सत्सङ्गकी सिद्धि (प्राप्ति) ही फल है, अन्य सब साधन तो फूल हैं। दुष्ट भी सत्सङ्ग पाकर सुधर जाते हैं, जैसे पारसके स्पर्शसे लोहा सुहावना हो जाता है—सुन्दर सुवर्ण बन जाता है।'

इसी विषयमें श्रीमहादेवजीने गरुड़जीसे कहा है—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ६१)

'सत्सङ्गके बिना श्रीहरिकी कथा सुननेको नहीं मिलती, हरिकथा-श्रवणके बिना मोह नहीं भागता—मोहका नाश नहीं होता और मोहके गये बिना श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें दृढ़ (अचल) प्रेम नहीं होता।'

श्रीकाकभुशुण्डिजीने भी गरुड़जीसे कहा है—

सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहूँ पाई॥
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ११९। ९-१०)

'सुन्दर हरिभक्ति ही समस्त साधनोंका फल है। परंतु उसे संत-(की कृपा) के बिना किसीने नहीं पाया। यों विचारकर जो भी संतोंका सङ्ग करता है, हे गरुड़जी ! उसके लिये श्रीरामजीकी भक्ति सुलभ हो जाती है।'

फिर जिनको भगवान्‌ने संसारका कल्याण करनेके लिये ही संसारमें भेजा है, उन परम अधिकारी पुरुषोंकी तो बात ही क्या है ! उनके तो दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन और वार्तालापसे भी विशेष लाभ हो सकता है। जैसे किसी कामी पुरुषके अंदर कामिनीके दर्शन, भाषण, स्पर्श या चिन्तनसे कामकी जागृति हो जाती है, वैसे ही भगवत्प्रेमी पुरुषोंके दर्शन, भाषण, स्पर्श या चिन्तनसे भगवत्प्रेमकी जागृति अवश्य होनी चाहिये। प्रसिद्ध है कि पारसके सङ्गसे लोहा सोना बन जाता है; किंतु महात्माके सङ्गकी तो उससे भी बढ़कर महिमा बतलायी गयी है; किसी कविने कहा है—

पारस में अरु संत में, बहुत अंतरौ जान।
वह लोहा कंचन करै, वह करै आपु समान॥

'पारसमें और संतमें बहुत अन्तर समझना चाहिये। पारस लोहेको सोना अवश्य बना देता है; किंतु संत तो अपने सम्पर्कमें आनेवालेको अपने समान ही बना लेते हैं।'

पारसके साथ सम्बन्ध होनेपर लोहा अवश्य ही सोना बन जाता है। यदि न बने तो यही समझना चाहिये कि या तो वह पारस पारस नहीं है या वह लोहा लोहा नहीं है। इसी प्रकार महापुरुषोंके सङ्गसे साधक

अवश्य ही महापुरुष बन जाता है। यदि नहीं बनता तो यही समझना चाहिये कि या तो वह महापुरुष महापुरुष नहीं है अथवा साधकमें श्रद्धा-विश्वास और प्रेमकी कमी है।

उन भगवद्भक्त अधिकारी पुरुषोंकी तो जहाँ भी दृष्टि पड़ती है, वे जिनका मनसे स्मरण कर लेते हैं या जिनका स्पर्श कर लेते हैं, उन व्यक्तियों और पदार्थोंमें भगवत्प्रेमके परमाणु प्रवेश कर जाते हैं। किसी जिज्ञासुके मरनेके पूर्व यदि वे वहाँ पहुँच जाते हैं तो कथा-कीर्तन सुनाकर उसका कल्याण कर देते हैं। श्रीनारद-पुराणमें तो यहाँतक कहा गया है—

महापातकयुक्ता वा युक्ता वा चोपपातकैः।
परं पदं प्रयान्त्येव महद्भिरवलोकिताः॥
कलेवरं वा तद्भस्म तद्धूमं वापि सत्तम।
यदि पश्यति पुण्यात्मा स प्रयाति परां गतिम्॥

(ना० पूर्व० ७। ७४-७५)

'जो अधिकारी महापुरुषोंके द्वारा देख लिये जाते हैं, वे महापातक या उपपातकोंसे युक्त होनेपर भी अवश्य परम पदको प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे पवित्रात्मा महापुरुष यदि किसीके मृत शरीरको, उसकी चिताके धूएँको अथवा उसके भस्मको भी देख लें तो वह मृतक पुरुष भी परम गतिको पा लेता है।'

इसीलिये महापुरुषोंके सङ्गकी महिमा शास्त्रोंमें विशेषरूपसे वर्णित है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(१। १८। १३)

'भगवत्सङ्गी (भगवत्प्रेमी) पुरुषोंके लव (क्षण) मात्रके भी सङ्गके साथ हम स्वर्गकी तो क्या, मोक्षकी भी तुलना नहीं कर सकते; फिर संसारके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है?'

श्रीरामचरितमानसमें भी लङ्किनी राक्षसीका हनुमान्‌जीके प्रति इसी तरहका वचन मिलता है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

(सुन्दर० ४)

'हे तात! स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको यदि तराजूके एक पलड़ेमें रखा जाय तो वे सब मिलकर भी (दूसरे पलड़ेपर रखे हुए) उस सुखके बराबर नहीं हो सकते, जो लवमात्रके सत्सङ्गसे प्राप्त होता है।'

ऐसे महापुरुषोंकी कृपाको भक्तिकी प्राप्तिका प्रधान साधन बतलाते हुए श्रीनारदजी कहते हैं—

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद् वा।

(ना० भ० सू० ३८)

'भगवान्‌की भक्ति मुख्यतया महापुरुषोंकी कृपासे ही अथवा भगवान्‌की कृपाके लेशमात्रसे प्राप्त होती है।'

नारदजी फिर कहते हैं—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।

(ना० भ० सू० ३९)

'उन महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ एवं अगम्य होते हुए भी मिल जानेपर अमोघ होता है।'

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव।

(ना० भ० सू ४०)

'और वह भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है।'

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥

(११।२।२९)

'प्राणियोंके लिये मनुष्य-शरीरका प्राप्त होना कठिन है। यदि यह प्राप्त हो भी गया तो है यह क्षणभङ्गुर। और ऐसे अनिश्चित मनुष्य-जीवनमें भगवान्‌के प्रिय भक्तजनोंका दर्शन तो और भी दुर्लभ है।'

ऐसे महापुरुषोंका मिलन हो जाय तो हमलोगोंको चाहिये कि हम उनको साष्टाङ्ग नमस्कार करें, उनसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रश्न करके भगवान्‌के तत्त्वको जानें, उनकी आज्ञाका पालन करें और उनकी सेवा करें। उनकी आज्ञाका पालन करना ही उनकी वास्तविक सेवा है तथा इससे भी बढ़कर है—उन महापुरुषोंके संकेत, सिद्धान्त और मनके अनुकूल चलना, अपने मन-इन्द्रियोंकी डोरको उनके हाथमें सौंप देना और उनके हाथकी कठपुतली बन जाना। इस प्रकारकी चेष्टा करनेवाले परम श्रद्धालु मनुष्यके अंदर उन सत्पुरुषोंके सङ्गके प्रभावसे सद्गुण-सदाचारका प्रादुर्भाव तथा दुर्गुण-दुराचारका नाश ही नहीं, अपितु भगवान्‌की भक्ति, उनके तत्त्वका ज्ञान और भगवत्प्राप्ति आदि सहजमें ही हो जाते हैं।

शास्त्रोंमें सत्सङ्गके प्रभावके अनेक उदाहरण मिलते हैं। हमलोगोंको उनपर ध्यान देना चाहिये। भगवान्‌के प्रेम और मिलनरूप सत्सङ्गके श्रेष्ठ उदाहरण हैं—सुतीक्ष्ण और शबरी। इनकी कथा श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें देखनेको मिलती है। तथा भगवत्प्राप्त भक्तोंके सङ्गसे भगवान्‌के तत्त्वका ज्ञान और उनकी

प्राप्ति होनेके तो बहुत उदाहरण हैं। श्रीनारदजीके सङ्ग और उपदेशसे ध्रुवको भगवान्‌के दर्शन हो गये और उनके अभीष्टकी भी सिद्धि हो गयी (श्रीमद्भागवत स्कन्ध ४, अध्याय ८-९)। श्रीकाकभुशुण्डिजीके सत्सङ्गसे गरुड़जीका मोहनाश ही नहीं, उन्हें भगवान्‌का अनन्य प्रेम भी प्राप्त हो गया (श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड) तथा श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके सङ्ग और उपदेशसे श्रीवास, रघुनाथ भट्ट और हरिदास आदिका उद्धार हो गया।

इसी प्रकार जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुषोंके सङ्गसे भी परमात्माका ज्ञान और उनकी प्राप्ति होनेके बहुत उदाहरण मिलते हैं। महात्मा हारिद्रुमत गौतमकी आज्ञाका पालन करनेसे जबालापुत्र सत्यकामको तथा सत्यकामके सङ्ग और सेवासे उपकोसलको ब्रह्मका ज्ञान हो गया (छान्दोग्य-उप० अ० ४, खं० ४ से १७)। राजा अश्वपतिका सङ्ग करनेपर उनके उपदेशसे महात्मा उद्दालकको साथ लेकर उनके पास आये हुए प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल नामक पाँच ऋषियोंको ज्ञान प्राप्त हो गया (छान्दोग्य-उप० अ० ५, खं० ११)। अरुणपुत्र उद्दालकके सत्सङ्गसे श्वेतकेतुको ब्रह्मका ज्ञान हो गया (छान्दोग्य-उप० अ० ६, खं० ८ से १६)। श्रीसनत्कुमारजीके सङ्ग और उपदेशसे नारदजीका अज्ञानान्धकार दूर हो गया तथा उनको ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी (छान्दोग्य-उप० अ० ७)। याज्ञवल्क्य मुनिके उपदेशसे मैत्रेयीको ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो गयी (बृहदारण्यक० अ० ४, ब्रा० ५)। श्रीधर्मराजके सङ्ग और उपदेशसे नचिकेता आत्मतत्त्वको जानकर ब्रह्मभावको प्राप्त हो गये (कठोपनिषद्, अ० १-२)। महात्मा जडभरतके सङ्ग और उपदेशसे राजा रहूगणको परमात्माका ज्ञान हो गया (भागवत स्कन्ध ५, अ० १० से १३)। इस प्रकार सत्सङ्गसे

भगवान्‌में प्रेम, उनके तत्त्वका ज्ञान और उनकी प्राप्ति होनेके उदाहरण श्रुतियों तथा इतिहास-पुराणोंमें भरे पड़े हैं। हमलोगोंको चाहिये कि शास्त्रोंका अनुशीलन करके सत्सङ्गका प्रभाव समझें और सङ्गके अनुसार सत्पुरुषोंके सङ्गका लाभ उठायें; क्योंकि मनुष्य जैसा सङ्ग करता है, वैसा ही बन जाता है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है—***जैसा करै सङ्ग, वैसा चढ़ै रंग।*** और देखनेमें भी आता है कि मनुष्य योगीके सङ्गसे योगी, भोगीके सङ्गसे भोगी और रोगीके सङ्गसे रोगी हो जाता है। इस बातको समझकर हमें संसारासक्त मनुष्योंका सङ्ग न करके महात्मा पुरुषोंका ही सङ्ग करना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंका सङ्ग मुक्तिदायक है और संसारासक्त मनुष्योंका सङ्ग बन्धनकारक है।

श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

संत संग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कबि कोबिद श्रुति पुरान सदग्रंथ॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ३३)

'संतका सङ्ग मोक्ष-(भव-बन्धनसे छूटने-) का और कामीका सङ्ग जन्म-मृत्युके बन्धनमें पड़नेका मार्ग है। संत, ज्ञानी और पण्डित तथा वेद-पुराण आदि सभी सद्ग्रन्थ ऐसी बात कहते हैं।'

किंतु यदि महात्मा पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त न हो तो उनके अभावमें विरक्त दैवी-सम्पदायुक्त उच्च कोटिके साधकोंका सङ्ग करना चाहिये। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक साधन करते हुए उनका सङ्ग करनेसे भी बहुत लाभ होता है; क्योंकि वीतराग पुरुषोंके स्मरणसे वैराग्यके भाव जाग्रत् होते हैं और मनकी एकाग्रता हो जाती है। श्रीपातञ्जलयोगदर्शनमें बतलाया गया है—

वीतरागविषयं वा चित्तम्। (१।३७)

'जिन पुरुषोंकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, ऐसे विरक्त पुरुषोंको ध्येय बनाकर अभ्यास करनेवाला व्यक्ति स्थिरचित्त हो जाता है।'

जो उच्चकोटिके वीतराग साधु-महात्मा होते हैं, उनके लिये त्रिलोकीका ऐश्वर्य भी धूलके समान होता है। वे मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाको कलङ्क समझते हैं। इसलिये वे न अपने पैर पुजवाते हैं, न अपने पैरोंकी धूल किसीको देते हैं और न पैरोंका जल ही। न वे अपना फोटो पुजवाते हैं और न मान-पत्र ही लेते हैं। वे अपनी कीर्ति कभी नहीं चाहते, बल्कि जहाँ कीर्ति होती है, वहाँ ठहरते ही नहीं; फिर अपनी आरती उतरवाने और लोगोंको उच्छिष्ट खिलानेकी तो बात ही क्या है। यदि ऐसे विरक्त महापुरुषोंका सङ्ग न प्राप्त हो तो मनुष्यको चाहिये कि दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग तो कभी न करे। दुष्ट पुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदासजीने लिखा है—

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई॥
खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥
जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥
काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥
बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ३८।१—३)

पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ३९)

मातु पिता गुर बिप्र न मानहिं। आपु गए अरु घालहिं आनहिं॥

करहिं मोह बस द्रोह परावा। संत संग हरि कथा न भावा॥
अवगुन सिंधु मंदमति कामी। बेद बिदूषक परधन स्वामी॥
बिप्र द्रोह पर द्रोह बिसेषा। दंभ कपट जियँ धरें सुबेषा॥
ऐसे अधम मनुज खल कृतजुग त्रेताँ नाहिं।
द्वापर कछुक बृंद बहु होइहहिं कलिजुग माहिं॥

(रा० च० मा० उत्तर० ३९। ३-४; ४०)

'अब असंतों-(दुष्टों) का स्वभाव सुनो। कभी भूलकर भी उनकी संगति नहीं करनी चाहिये। उनका सङ्ग उसी प्रकार सदा दुःख देनेवाला होता है, जैसे हरहाई (बुरे स्वभावकी) गाय कपिला (अच्छे स्वभाव-वाली सीधी और दुधार) गायको अपने सङ्गसे नष्ट कर डालती है। दुष्टोंके हृदयमें बहुत अधिक संताप होता है। वे परायी सम्पत्ति (सुख) देखकर सदा जलते रहते हैं, वे जहाँ-कहीं दूसरेकी निन्दा सुन लेते हैं, वहाँ ऐसे हर्षित होते हैं, मानो रास्तेमें पड़ा खजाना उन्हें मिल गया हो। वे काम, क्रोध, मद और लोभके परायण तथा निर्दयी, कपटी, कुटिल और पापोंके घर होते हैं। वे बिना ही कारण सब किसीसे वैर किया करते हैं। जो उनके साथ भलाई करता है, उसका भी अपकार करते हैं। वे दूसरोंसे द्रोह करते हैं और परायी स्त्री, पराये धन तथा परायी निन्दामें आसक्त रहते हैं। वे पामर और पापमय मनुष्य नर-शरीर धारण किये हुए राक्षस ही हैं। वे माता, पिता, गुरु और ब्राह्मण—किसीको नहीं मानते। स्वयं तो नष्ट हुए ही रहते हैं, अपने सङ्गसे दूसरोंको भी नष्ट करते हैं। वे मोहवश दूसरोंसे द्रोह करते हैं। उन्हें न संतोंका सङ्ग अच्छा लगता है, न भगवान्‌की कथा ही सुहाती है। वे अवगुणोंके समुद्र, मन्दबुद्धि, कामी तथा वेदोंके निन्दक होते हैं और बलपूर्वक पराये धनके स्वामी बन जाते हैं। वे ब्राह्मणोंसे तो द्रोह करते ही हैं,

परमात्माके साथ भी विशेषरूपसे द्रोह करते हैं। उनके हृदयमें दम्भ और कपट भरा रहता है, परंतु वे ऊपरसे सुन्दर वेष धारण किये रहते हैं। ऐसे नीच और दुष्ट मनुष्य सत्ययुग और त्रेतामें नहीं होते, द्वापरमें थोड़े होते हैं; किंतु कलियुगमें तो इनके झुंड-के-झुंड होते हैं।'

आगे फिर कलियुगका वर्णन करते हुए पूज्यपाद गोस्वामीजी कहते हैं—

कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रंथ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ९७ क)

मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥

× × × ×

निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥
जाकें नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥
असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ९७ क। २—४; ९८ क)

सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥
गुर सिष बधिर अंध का लेखा। एक न सुनइ एक नहिं देखा॥
हरइ सिष्य धन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुँ परई॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ९८। १, ३, ४)

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥
नारि मुई गृह संपति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी॥

ते बिप्रन्ह सन आपु पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ९९। ५, ६, ७)

'कलियुगके पापोंने सारे धर्मोंको ग्रस लिया, सद्ग्रन्थ लुप्त हो गये, दम्भियोंने अपनी बुद्धिसे कल्पना करके बहुत-से पंथ प्रकट कर दिये। कलियुगमें जिसको जो अच्छा लग जाय, वही मार्ग है। जो डींग मारता है, वही पण्डित है। जो मिथ्या आरम्भ करता (आडम्बर रचता) है और जो दम्भमें रत है, उसीको सब कोई संत कहते हैं। जो जिस किसी प्रकारसे दूसरेका धन हरण कर ले, वही बुद्धिमान् है। जो दम्भ करता है, वही बड़ा आचारी है, जो आचारहीन और वेदमार्गका त्यागी है, कलियुगमें वही ज्ञानी और वही वैराग्यवान् है। जिसके बड़े-बड़े नख और लम्बी-लम्बी जटाएँ हैं, वही कलियुगमें प्रसिद्ध तपस्वी है। जो अमङ्गल वेष और अमङ्गल भूषण धारण करते हैं और भक्ष्य-अभक्ष्य (खानेयोग्य और न खानेयोग्य)—सब कुछ खा लेते हैं, वे ही योगी हैं, वे ही सिद्ध हैं और वे ही मनुष्य कलियुगमें पूज्य हैं। शूद्र ब्राह्मणोंको ज्ञानोपदेश करते हैं और गलेमें जनेऊ डालकर कुत्सित दान लेते हैं। गुरु और शिष्य क्रमशः अंधे और बहरेके समान होते हैं—एक (शिष्य) गुरुके उपदेशको सुनता नहीं, दूसरा (गुरु) देखता नहीं (ज्ञानदृष्टिसे हीन है)। जो गुरु शिष्यका धन तो हर लेता है, पर शोक नहीं मिटा सकता, वह घोर नरकमें पड़ता है। तेली, कुम्हार, चाण्डाल, भील, कोल और कलवार आदि जो वर्णमें नीचे हैं, वे स्त्रीके मरनेपर अथवा घरकी सम्पत्ति नष्ट हो जानेपर सिर मुड़ाकर संन्यासी हो जाते हैं। वे अपनेको ब्राह्मणोंसे पुजवाते हैं, जिससे अपने ही हाथों इस लोक और परलोक—दोनोंको नष्ट करते हैं।'

सुना और देखा भी जाता है कि आजकल दम्भीलोग भक्त, साधु,

ज्ञानी, योगी और महात्मा सजकर अपने नामका जप और अपने स्वरूपका ध्यान करवाते हैं तथा अपने पैरोंका जल पिलाकर एवं अपना जूठन खिलाकर अपना और लोगोंका धर्म भ्रष्ट करते हैं। ऐसे दम्भी मनुष्योंसे सब लोगोंको सदा सावधान रहना चाहिये; क्योंकि ऐसे पुरुषोंके सङ्गसे मनुष्यमें दुर्गुण-दुराचारोंकी वृद्धि होती है और परिणामतः उसका पतन हो जाता है। इसके विपरीत जिस पुरुषके दर्शन, भाषण, वार्तालाप और सङ्गसे हमारे अंदर गीताके १६ वें अध्यायके पहलेसे तीसरे श्लोकतक बतलाये हुए सद्गुण-सदाचाररूप दैवी-सम्पदाके लक्षण प्रकट हों और भगवान्‌की भक्तिका उदय हो, उसे दैवी-सम्पदायुक्त उच्चकोटिका साधक भगवद्भक्त समझना चाहिये। ऐसे साधक भक्तोंके लक्षण गीताके ९ वें अध्यायके १३ वें, १४ वें श्लोकोंमें इस प्रकार बतलाये गये हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

'परंतु हे कुन्तीपुत्र ! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन तो मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित—अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं। वे दृढ़निश्चयी भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं।'

ऐसे पुरुषोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सङ्ग करनेसे दैवी-सम्पदाके लक्षणोंका और ईश्वर-भक्तिका प्रादुर्भाव अवश्य ही होना चाहिये। यदि

नहीं होता तो समझना चाहिये कि या तो जिस साधक भक्तका हम सङ्ग कर रहे हैं, उसमें कोई कमी है अथवा हममें श्रद्धा-भक्तिकी कमी है।

किंतु यदि ऐसे उच्च कोटिके वीतराग साधकोंका भी सङ्ग न मिले तो सत्-शास्त्रोंका सङ्ग (अध्ययन) करना चाहिये; क्योंकि सत्-शास्त्रोंका सङ्ग भी सत्सङ्ग ही है। श्रुति-स्मृति, गीता, रामायण, भागवत आदि इतिहास-पुराण तथा इसी प्रकारके ज्ञान, वैराग्य और सदाचारसे युक्त अन्य सत्-शास्त्रोंका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अनुशीलन तथा उनमें कही हुई बातोंको हृदयमें धारण और पालन करनेसे भी मनुष्यका संसारसे वैराग्य और भगवान्‌से प्रेम होता है तथा आगे चलकर वह सच्चा भक्त बन जाता है एवं भगवान्‌को यथार्थरूपसे जानकर उनको प्राप्त हो जाता है।

भगवान्‌के दर्शन प्रत्यक्ष हो सकते हैं

बहुत-से सज्जन मनमें शङ्का उत्पन्न कर इस प्रकारके प्रश्न किया करते हैं कि दो प्यारे मित्र जैसे आपसमें मिलते हैं, क्या इसी प्रकार इस कलिकालमें भी भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन मिल सकते हैं ? यदि सम्भव है तो ऐसा कौन-सा उपाय है कि जिससे हम उस मनमोहिनी मूर्तिका शीघ्र ही दर्शन कर सकें ? साथ ही यह भी जानना चाहते हैं, क्या वर्तमान कालमें ऐसा कोई पुरुष संसारमें है जिसको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान् मिले हों ?

वास्तवमें तो इन तीनों प्रश्नोंका उत्तर वे ही महान् पुरुष दे सकते हैं, जिनको भगवान्‌की उस मनमोहिनी मूर्तिका साक्षात् दर्शन हुआ हो।

यद्यपि मैं एक साधारण व्यक्ति हूँ तथापि परमात्माकी और महान् पुरुषोंकी दयासे केवल अपने मनोविनोदार्थ तीनों प्रश्नोंके सम्बन्धमें क्रमशः कुछ लिखनेका साहस कर रहा हूँ।

(१) जिस तरह सत्ययुगादिमें ध्रुव, प्रह्लादादिको साक्षात् दर्शन होनेके प्रमाण मिलते हैं, उसी तरह कलियुगमें भी सूरदास, तुलसीदासादि बहुत-से भक्तोंको प्रत्यक्ष दर्शन होनेका इतिहास मिलता है; बल्कि विष्णुपुराणादिमें तो सत्ययुगादिकी अपेक्षा कलियुगमें भगवत्-दर्शन होना बड़ा ही सुगम बताया गया है। श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात्॥

(१२।३।५२)

'सत्ययुगमें निरन्तर विष्णुका ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञद्वारा यजन करनेसे और द्वापरमें पूजा (उपासना) करनेसे जिस परमगतिकी प्राप्ति होती है वही कलियुगमें केवल नाम-कीर्तनसे मिल जाती है।'

जैसे अरणीकी लकड़ियोंको मथनेसे अग्नि प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार सच्चे हृदयकी प्रेमपूरित पुकारकी रगड़से अर्थात् उस भगवान्‌के प्रेममय नामोच्चारणकी गम्भीर ध्वनिके प्रभावसे भगवान् भी प्रकट हो जाते हैं। महर्षि पतञ्जलिने भी अपने योगदर्शनमें कहा है—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः। (२।४४)

'नामोच्चारसे इष्टदेव परमेश्वरके साक्षात् दर्शन होते हैं।'

जिस तरह सत्य-सङ्कल्पवाला योगी जिस वस्तुके लिये सङ्कल्प करता है वही वस्तु प्रत्यक्ष प्रकट हो जाती है, उसी तरह शुद्ध अन्तःकरणवाला भगवान्‌का सच्चा अनन्य प्रेमी भक्त जिस समय भगवान्‌के प्रेममें मग्न होकर भगवान्‌की जिस प्रेममयी मूर्तिके दर्शन करनेकी इच्छा करता है, उस रूपमें ही भगवान् तत्काल प्रकट हो जाते हैं। गीता अध्याय ११ श्लोक ५४ में भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

'हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

एक प्रेमी मनुष्यकी यदि अपने दूसरे प्रेमीसे मिलनेकी उत्कट इच्छा हो जाती है और यह खबर दूसरे प्रेमीको मालूम हो जाती है तो वह स्वयं बिना मिले नहीं रह सकता, फिर भला यह कैसे सम्भव

है कि जिसके समान प्रेमके रहस्यको कोई भी नहीं जानता, वह प्रेममूर्ति परमेश्वर अपने प्रेमी भक्तसे बिना मिले रह सके ?

अतएव सिद्ध होता है कि वह प्रेममूर्ति परमेश्वर सब काल तथा सब देशमें सब मनुष्योंको भक्तिवश होकर अवश्य ही प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं।

(२) भगवान्‌के मिलनेके बहुत-से उपायोंमेंसे सर्वोत्तम उपाय है 'सच्चा प्रेम'। उसीको शास्त्रकारोंने अव्यभिचारिणी भक्ति, भगवान्‌में अनुरक्ति, प्रेमाभक्ति और विशुद्ध भक्ति आदि नामोंसे कहा है।

जब सत्सङ्ग, भजन, चिन्तन, निर्मलता, वैराग्य, उपरति, उत्कट इच्छा और परमेश्वरविषयक व्याकुलता क्रमसे होती है तब भगवान्‌में सच्चा विशुद्ध प्रेम होता है।

शोक तो इस बातका है कि बहुत-से भाइयोंको तो भगवान्‌के अस्तित्वमें ही विश्वास नहीं है। कितने भाइयोंको यदि विश्वास है भी, तो वे क्षणभङ्गुर, नाशवान् विषयोंके मिथ्या सुखमें लिप्त रहनेके कारण उस प्राणप्यारेके मिलनेके प्रभावको और महत्त्वको ही नहीं जानते। यदि कोई कुछ सुन-सुनाकर तथा कुछ विश्वास करके उसके प्रभावको कुछ जान भी लेते हैं तो अल्प चेष्टासे ही सन्तुष्ट होकर बैठ जाते हैं या थोड़े-से साधनोंमें ही निराश-से हो जाया करते हैं। द्रव्य-उपार्जनके बराबर भी परिश्रम नहीं करते।

बहुत-से भाई कहा करते हैं कि हमने बहुत चेष्टा की परन्तु प्राणप्यारे परमेश्वरके दर्शन नहीं हुए। उनसे यदि पूछा जाय कि क्या तुमने फाँसीके मामलेसे छूटनेकी तरह भी कभी संसारकी जन्म-मरण-रूपी फाँसीसे छूटनेकी चेष्टा की ? घृणास्पद, निन्दनीय स्त्रीके प्रेमके वशीभूत होकर उसके मिलनेकी चेष्टाके समान भी कभी

भगवान्‌से मिलनेकी चेष्टा की ? यदि नहीं, तो फिर यह कहना कि भगवान् नहीं मिलते, सर्वथा व्यर्थ है।

जो मनुष्य शर-शय्यापर शयन करते हुए पितामह भीष्मके सदृश भगवान्‌के ध्यानमें मस्त होते हैं, भगवान् भी उनके ध्यानमें उसी तरह मग्न हो जाते हैं। गीता अध्याय ४ श्लोक ११ में भी भगवान्‌ने कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

'हे अर्जुन ! जो मुझको जैसे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।'

भगवान्‌के निरन्तर नामोच्चारणके प्रभावसे जब क्षण-क्षणमें रोमाञ्च होने लगते हैं, तब उसके सम्पूर्ण पापोंका नाश होकर उसको भगवान्‌के सिवा और कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती। विरह-वेदनासे अत्यन्त व्याकुल होनेके कारण नेत्रोंसे अश्रुधारा बहने लग जाती है तथा जब वह त्रैलोक्यके ऐश्वर्यको लात मारकर गोपियोंकी तरह पागल हुआ विचरता है और जलसे बाहर निकाली हुई मछलीके समान भगवान्‌के लिये तड़पने लगता है, उसी समय आनन्दकन्द प्यारे श्यामसुन्दरकी मोहिनी मूर्तिका दर्शन होता है। यही है उस भगवान्‌से मिलनेका सच्चा उपाय।

यदि किसीको भी भगवान्‌से मिलनेकी सच्ची इच्छा हो तो उसे चाहिये कि वह रुक्मिणी, सीता और व्रजबालाओंकी तरह सच्चे प्रेमपूरित हृदयसे भगवान्‌से मिलनेके लिये विलाप करे।

(३) यद्यपि प्रकटमें तो ऐसे पुरुष कलिकालमें नहीं दिखायी देते जिनको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हुए हों, तथापि सर्वथा न हों यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रह्लाद आदिकी तरह हजारोंमेंसे किसी कारणविशेषसे ही किसी एककी लोकप्रसिद्धि हो जाया

करती है, नहीं तो ऐसे लोग इस बातको विख्यात करनेके लिये अपना कोई प्रयोजन ही नहीं समझते।

यदि यह कहा जाय कि संसार-हितके लिये सबको यह जताना उचित है, सो ठीक है, परन्तु ऐसे श्रद्धालु श्रोता भी मिलने कठिन हैं तथा बिना पात्रके विश्वास होना भी कठिन है। यदि बिना पात्रके कहना आरम्भ कर दिया जाय तो उसका कुछ भी मूल्य नहीं रहता और न कोई विश्वास ही करता है।

अतः हमें विश्वास करना चाहिये कि ऐसे पुरुष संसारमें अवश्य हैं, जिनको उपर्युक्त प्रकारसे दर्शन हुए हैं। परन्तु उनके न मिलनेमें हमारी अश्रद्धा ही हेतु है और न विश्वास करनेकी अपेक्षा विश्वास करना ही सबके लिये लाभदायक है; क्योंकि भगवान्‌से सच्चा प्रेम होनेमें तथा दो मित्रोंकी तरह भगवान्‌की मनमोहिनी मूर्तिके प्रत्यक्ष दर्शन मिलनेमें विश्वास ही मूल कारण है।

जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्यायसे उत्तरोत्तर उन्नतिका दिग्दर्शन

कोई-कोई भाई ऐसा कहते हैं कि 'हम ध्यान करते हैं, नामका जप करते हैं, माला भी अधिक संख्यामें फेरते हैं, किंतु हमें विशेष लाभ देखनेमें नहीं आता, हमारी स्थिति वैसी-की-वैसी ही दिखायी देती है।' कितने ही भाई कहते हैं—'हम बीस सालसे सत्सङ्ग करते हैं, किंतु विशेष लाभ नहीं देखनेमें आता।' इन लोगोंके कथनपर कुछ विचार करना आवश्यक है। मान लीजिये कि एक आदमी गीताका पाठ करता है, उसे पाठ करते दस वर्ष बीत गये, किंतु उसका कोई सुधार नहीं हुआ; तो, यह तो निश्चय ही है, इसमें गीताका तो कोई दोष है नहीं। तब फिर सुधार क्यों नहीं हो रहा है ? जो पुरुष गीताका अभ्यास करता है और उसका सुधार नहीं हो रहा है, उसको यह सोचना चाहिये कि गीतामें तो कोई ऐसी बात है नहीं कि जिससे उसका पाठ करनेपर उलटी खराबी हो या पाठका अभ्यास करनेसे आगे बढ़नेमें रुकावट पड़े। तो फिर बात क्या है ? तब फिर यही निश्चय होता है कि गीताके साधनमें ही कहीं-न-कहीं त्रुटि है। हम सत्सङ्ग करते हैं पर हमारा कोई सुधार नहीं हुआ। जो सत्सङ्ग नहीं करते हैं, वे भी वैसे ही हैं और हम जो सत्सङ्ग करते हैं, वे भी वैसे ही रहें। तो यह समझना चाहिये कि सत्सङ्गसे कोई हानि हो, ऐसी बात तो है ही नहीं और न सत्सङ्ग आगे बढ़नेसे रोकता ही है। इसी प्रकार भजन-ध्यानके विषयमें भी समझना चाहिये कि भजन-ध्यान करनेसे हानि हो, यह बात तो असम्भव है। तो फिर क्या बात है ? बात यह है कि हमारा साधन उच्च कोटिका नहीं

है। साधन मूल्यवान् होना चाहिये। जिस प्रकार आप धन कमानेके लिये हृदयसे चेष्टा करते हैं और उस कामको ध्यान देकर बड़ी सावधानीके साथ सुचारुरूपसे करते हैं, इसी प्रकार गीतापाठ, जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि साधन भी आपको तत्परता तथा आदरपूर्वक और ध्यान देकर निष्कामभावसे अच्छी प्रकार करने चाहिये। जब आप साधनका आदर नहीं करेंगे, तब साधन भी आपका आदर कैसे करेगा ? आदरका क्या अर्थ है ? गीतामें हमारी आदरबुद्धि होगी तो हम जहाँ भी बैठेंगे, हम गीताको अपने बैठनेके स्थानसे उच्च आसनपर आदरपूर्वक रखेंगे यानी जैसे सिखलोग ग्रन्थसाहिबको मानते हैं, उसी प्रकार हम उसका विशेष आदर करेंगे। दूसरी बात यह कि हम उसका पाठ बड़े प्रेमसे—अनुरागसे धीरे-धीरे सम्मानपूर्वक करेंगे; क्योंकि हमें उसके द्वारा श्रीभगवान्‌को प्रसन्न करना है। यह नहीं कि बड़ी जल्दीसे समाप्त करनेके लिये डाकगाड़ी-सी छोड़ देंगे। तीसरी बात यह कि हमने आज जो गीताका पाठ किया, वह कौनसे अध्यायके कौनसे श्लोक थे—यह याद रखें और उनके अर्थ और भावपर ध्यान दें। किसीने पूछा कि आज किस अध्यायका पाठ किया तो बोले—आज पञ्चमी है तो पाँचवें अध्यायका ही पाठ किया होगा। आपने प्रातःकाल ही पाठ किया, वह भी पूरा याद नहीं कि किस अध्यायका पाठ किया, तो गीताके ऐसे पाठसे विशेष क्या लाभ होगा। आप गीताका पाठ करते हैं, पाठ करते-करते नींद आ गयी, पुस्तक आपके हाथसे गिर गयी, फिर पुस्तक उठाकर सोचने लगे, किस अध्यायके किस श्लोकका पाठ कर रहे थे, ऐसा पाठ करना तो गीताका अनादर करना है और जब आप गीताका यों अनादर करेंगे, तब गीताके अध्ययनसे जो लाभ होना चाहिये, वह आपको कैसे होगा ?

इसी प्रकार आपने सत्सङ्ग किया। किसीने पूछा कि 'आप सत्सङ्गमें गये थे ?' कहा—'हाँ गये थे।' पूछा—'क्या विषय था ?' कहा— 'सत्सङ्ग बहुत अच्छा था पर क्या विषय था सो तो याद नहीं है।' 'वाह, आप अभी-अभी सत्सङ्गसे आ रहे हैं' फिर याद कैसे नहीं है ?' तो बोले—'हमें कुछ झपकी-सी आ गयी थी।' दूसरे भाईसे पूछा—'क्या आप सत्सङ्गमें गये थे ?' बोले—'सत्सङ्गको तो सभी लोगोंने अच्छा बताया।' 'अजी ! लोगोंने तो अच्छा बतलाया पर आप भी तो थे न ?' कहा—'था तो सही।' फिर पूछा—'तो सत्सङ्गमें किस विषयका विवेचन हुआ ?' बोले—'मेरा मन दूसरी ओर चला गया था, मैंने ध्यान देकर सुना नहीं।' तीसरे भाईसे पूछा—'आज प्रसङ्ग क्या हुआ ?' बोले—'सुना तो था, किंतु याद नहीं।' सोचिये, जब अभी-अभी सत्सङ्गमें सुनी हुई बात याद ही नहीं रही, तब उसका पालन आप क्या करेंगे। बात यह है कि आपने आदरपूर्वक ध्यान देकर सुना ही नहीं।

इसी प्रकार आप जप करते हैं, आपका मन इधर-उधर चला गया, आप माला फेर रहे हैं, माला हाथसे गिर गयी। कितनी माला फेरी, यह ध्यान नहीं है। तो यह जप आदरपूर्वक नहीं है। माला फेरते समय एक तो भगवान्‌के नामके जपका तार नहीं टूटना चाहिये। दूसरे, जप करते समय खूब प्रसन्नचित्त रहना चाहिये और समझना चाहिये कि भगवान्‌की मुझपर बड़ी भारी कृपा है, जो कि उनके नामका जप मेरेद्वारा हो रहा है। जप करते समय उसके अर्थका भी ज्ञान होना चाहिये अर्थात् भगवान्‌के स्वरूपका भी ध्यान होना चाहिये एवं जप निष्काम प्रेमभावसे करना चाहिये तथा ऐसे श्रद्धा-विश्वासके साथ करना चाहिये कि 'जप करनेसे पापोंका नाश होकर मेरा निश्चय ही कल्याण हो जायगा

इसमें तनिक भी शङ्का नहीं।'

इसी प्रकार ध्यानके विषयमें समझना चाहिये। ध्यान करते समय भगवान्‌की लीलाका मनसे स्मरण होना चाहिये तथा भगवान्‌की लीलाके साथ-साथ भगवान्‌के स्वरूप और सौन्दर्य-माधुर्यको देख-देखकर पल-पलमें मुग्ध होना चाहिये। भगवान्‌के चरित्रोंमें भगवान्‌के गुण-प्रभावकी ओर भी दृष्टि डालनी चाहिये। भगवान्‌की जो कुछ लीला है, उसका तत्त्व-रहस्य भी साथ-ही-साथ समझना चाहिये। इस प्रकार भगवान्‌के गुण, स्वभाव, तत्त्व, रहस्यको समझकर ध्यान करना बहुत उत्तम है।

जब शास्त्रोंकी बातें महात्माओंसे सुनी जायँ तो सुनते समय इस बातपर अत्यन्त मुग्ध होना चाहिये कि भगवान्‌की हमपर कितनी कृपा है, जो ये बातें हमको सुननेको मिलीं। फिर उन बातोंको समझकर हृदयमें धारण करना चाहिये कि आजसे हमें यही करना है, यही बात आजसे हमको काममें लानी है। ऐसा करनेपर आपका जीवन शीघ्र ही बदल सकता है।

अब फिर कुछ रहस्यकी बातें बतायी जा रही हैं। चार बातें सार हैं—(१) भगवान्‌के नामका जप, (२) भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान, (३) स्वाध्याय करते समय उसके अर्थ और भावकी ओर दृष्टि तथा (४) सत्सङ्ग। अपने मनसे यह निश्चय कर लेना चाहिये कि 'इनसे हमारा निश्चय ही सुधार होकर उद्धार होगा।' जैसे भोजन करनेसे क्षुधाकी निवृत्ति अवश्य होती है और जल पीनेसे पिपासा अवश्य मिटती है, यह सर्वथा प्रत्यक्ष है, इसी प्रकार यह भी प्रत्यक्ष है। प्रतिदिन उसे सँभाल लेना चाहिये कि आज सत्सङ्ग करनेके बाद अपनेमें कितना सुधार हुआ यानी कौन-कौन-सी बातें जीवनमें

धारण हुई। आज रामायण पढ़ी तो पढ़नेके बाद यह देख लेना चाहिये कि उसमें कौन-सा प्रसङ्ग था और उससे मुझे क्या शिक्षा मिली और मेरा क्या सुधार हुआ। आज जप किया, ध्यान किया तो जप करनेसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश अवश्य हो जायगा और सद्गुण-सदाचार अपने-आप ही अवश्य आ जायँगे। भजन-ध्यानसे हममें सद्गुण-सदाचारोंका आविर्भाव अवश्य ही होगा। जब सद्गुण-सदाचार आयेंगे, तब उनके प्रभावसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश भी अवश्य हो जायगा। जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ अन्धकारका नाश होता ही है। इसी प्रकार जहाँ सद्गुण हैं, वहाँ दुर्गुण रह ही नहीं सकते। जहाँ ईश्वरकी भक्ति है, वहाँ पाप रह ही नहीं सकते। इस प्रकार समझकर हमें अपने हृदयको रोज सँभालना चाहिये। जैसे लोभी मनुष्य व्यापार करते समय प्रतिदिन यह सँभाल लेता है कि आज कितना माल बिका और उसमें कितना मुनाफा हुआ। वह लोभी आदमी प्रतिदिन उन्नतिकी चेष्टा करता रहता है। इसी तरह हमलोगोंको प्रतिदिन अपने साधनकी सँभाल कर लेनी चाहिये कि 'कलकी अपेक्षा आज साधनमें कितनी उन्नति हुई और उन्नति न हुई तो क्यों नहीं हुई।' उसका कारण ढूँढ़कर इस प्रकार उसे सावधानीसे दूर करें एवं प्रतिदिन उन्नतिकी चेष्टा करते रहें और यह समझते रहें कि 'ईश्वरका हमारे मस्तकपर हाथ है, उनकी अनन्त कृपा है। देखो, हम किस लायक हैं ? यह तो ईश्वरकी अहैतुकी कृपा है जो वे हमें संसारसे निकालकर हमारा उद्धार करना चाहते हैं। जब ईश्वरकी हमपर इतनी दया है, उनका इतना ध्यान है, तब फिर हमारे उद्धारमें क्या शङ्का है।'

किसी गरीब आदमीपर किसी करोड़पति धनी आदमीका हाथ हो तो वह निर्भय हो जाता है। अपने ऊपर तो ईश्वरका हाथ है। फिर बात

ही क्या है। इस प्रकार समझकर और ध्यानमें ईश्वरके स्वरूपको देखकर हर समय प्रसन्न होते रहना चाहिये कि उनका रूप और लावण्य अत्यन्त मनोहर और अलौकिक है तथा अपने ऊपर भगवान्‌का अतिशय प्रेम देखकर भी हर समय प्रसन्न होना चाहिये कि भगवान् हमसे कितना प्यार कर रहे हैं।

जो कुछ हो रहा है, यह सब परेच्छा और अनिच्छासे हो रहा है। जो परेच्छासे हो रहा है, उसे भगवान् करवा रहे हैं और जो अनिच्छासे हो रहा है, वह स्वयं भगवान् कर रहे हैं। उसको देख-देखकर हर समय प्रसन्न होना चाहिये, उसमें भगवान्‌की अहैतुकी दयाका अनुभव करना चाहिये—यह समझना चाहिये कि जो कुछ भी हो रहा है, उसमें भगवान्‌की दया ओत-प्रोत है। यदि किसी समय ऐसा प्रतीत हो कि इसमें भगवान्‌की दया नहीं है—कोप है, तो यह समझे कि वह कोप भी है तो भगवान्‌का ही न, अतः उसमें भी उनकी दया ही भरी है। बालकपर माताका कोप होता है तो बालक कोपमें भी माँकी दया ही समझता है; क्योंकि स्नेहमयी माँ कभी बालकका अनिष्ट नहीं करती। माँ कोप करती है तो लड़केपर अनुशासन करनेके लिये करती है, जिससे उसका सुधार हो। अतः जिस प्रकार माँके कोपमें दया भरी रहती है, इसी प्रकार भगवान्‌के कोपमें भी दया भरी है।

परेच्छा उसका नाम है, जो दूसरेकी इच्छासे हो। परेच्छाके उदाहरण देखिये—जैसे कोई भाई किसी नाबालिग लड़केको अपना दत्तक पुत्र बनाकर उसे अपनी सम्पत्तिका स्वामी बना दे तो यह समझना चाहिये कि वह लड़का सम्पत्तिका स्वामी परेच्छासे बना। लड़केने कोई कमाई नहीं की, परिश्रम भी नहीं किया; किंतु जब वह लड़का बालिग होकर अच्छी तरह समझता है, उस समय उसे प्रसन्नता होती है कि

मुझपर पिताकी कितनी दया है कि उन्होंने मुझे अपना लड़का बनाकर अपनी पाँच लाखकी सम्पत्तिका स्वत्वाधिकारी बनाया। यह उसे परेच्छासे लाभ मिला। अब परेच्छासे होनेवाली हानिका उदाहरण देखिये— किसी डाकूने हमारे पास रुपये समझकर पीछेसे चार लाठी जमा दी और रुपये छीनकर ले गया तो रुपये भी गये और चोट भी आयी। देखनेमें यह हमारे लिये बहुत ही हानिकी बात हुई। यह हमारी हानि परेच्छासे हुई और पहले बताया हुआ लाभ भी परेच्छासे हुआ। हमें जो परेच्छासे लाभ हुआ, वह पुण्यका फल है और हमारे जो वह चोट लगी तथा धन गया, यह हमारे पापका फल है। पापका फल दुःख है, पुण्यका फल सुख है। तो यह परेच्छासे पाप और पुण्य दोनोंका फल मिला। यह ईश्वरका विधान है। अतः इन दोनोंमें प्रसन्नता होनी चाहिये। यदि कहें कि रुपये मिले तो प्रसन्नता होती है पर चोट लगने और धन जानेपर तो दुःख ही होता है; तो मैं यह कहता हूँ कि जो आपको रुपये मिले, उसमें भी भगवान्‌की दया है, पर उससे भी अधिक दया उसमें है जिसको आप अनिष्ट मानते हैं। यह बात सबकी समझमें नहीं आती। परंतु गहराईसे समझनेकी बात है। आपको धन मिला, यह किसका फल है ? पुण्यका फल है। अच्छा, पुण्यका फल मिल गया, तब उस पुण्यका क्षय हो गया। उतनी पुण्यकी पूँजी कम हो गयी। अतः आप यहाँसे जायँगे तब इतनी पूँजीका नुकसान लेकर ही तो जायँगे। यदि आपने यह भाव समझा कि ईश्वरकी कृपासे धन मिला है तो फिर उससे परमात्माकी प्राप्तिके विषयका ही लाभ उठाना चाहिये। तब तो परमात्माकी आपपर दया हुई। पर जो धन मिला, उस धनको लेकर यदि आप मदिरा पीते हैं, मांस खाते हैं, अनाचार, व्यभिचार करते हैं; धनकी वृद्धिके लिये झूठ, कपट, चोरी तथा

हिंसा आदि पाप करते हैं तो मैं तो यही समझता हूँ कि उस धनका आपको न मिलना ही अच्छा था। भगवदर्थ लगाकर धनसे आप अपना कल्याण भी कर सकते हैं और कुकर्ममें लगाकर पतन भी।

इसी तरह आपको जो दण्ड मिला, उससे आपके पापका क्षय हो गया, आप पापके भारसे हलके हो गये और उस दण्ड मिलनेके साथ ही आपके हृदयमें यदि यह भाव आया कि 'मैंने पाप किया था, उसका भगवान्‌ने आज मुझे यह दण्ड दिया, अतः भविष्यमें मैं पाप नहीं करूँगा। जो पाप नहीं करेगा उसे दण्ड क्यों मिलेगा। पापका फल ही तो दुःख है न !' तो यह आपको श्रेष्ठ शिक्षा मिली। धन मिलनेसे तो अहंकार, पाप, प्रमाद, अकर्मण्यता और भोग-विलास आदि बढ़ते हैं, किंतु जब धन नष्ट होता है और मार पड़ती है, तब भगवान् याद आते हैं। इसलिये उसमें विशेष दया समझनी चाहिये।

अब अनिच्छासे होनेवाले हानि-लाभको समझिये। अनिच्छा उसे कहते हैं कि जिसमें आपकी या दूसरे किसीकी भी इच्छा न रही हो। अतः वह भगवान्‌की इच्छा है। इसे यों देखें—जो रोग होता है, वह अनिच्छासे प्राप्त प्रारब्धका फल है। बीमारीके लिये किसीकी इच्छा नहीं होती; फिर भी बीमारी हो गयी तो उसमें ईश्वरकी इच्छा समझे या अनिच्छा-प्रारब्धका भोग समझे। इसी प्रकार और कोई स्वाभाविक घटना हो जाती है; जैसे हमारा मकान जल गया, पेड़की डाल अकस्मात् टूट पड़ी और लड़का मर गया तो वह अनिच्छा-प्रारब्धका भोग है। यह पापका फल है। इसी तरह अनिच्छासे पुण्यका फल प्राप्त होता है; जैसे जमीनके, घरके या चीजोंके दाम बढ़ गये अथवा कहीं गड़ा हुआ धन मिल गया तो इसमें दूसरे किसीकी इच्छा नहीं है। ईश्वरकी इच्छासे अपने-आप ही पुण्यका फल प्राप्त हो गया। सुख पुण्यका फल है और दुःख पापका फल है।

कुछ पुण्य-पापोंका फल स्वेच्छासे प्राप्त होता है, इनको देखिये। हम स्वेच्छासे व्यापार करते हैं, उसमें मुनाफा भी होता है, नुकसान भी। मुनाफा पुण्यका फल है और नुकसान पापका। परेच्छा, अनिच्छा, स्वेच्छा—इन तीन प्रकारकी इच्छाओंसे प्रारब्ध-कर्मोंका भोग होता है। स्वेच्छापूर्वक हम जो काम करते हैं, वह भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही करना चाहिये। यह विश्वास रखना चाहिये कि हमारे भाग्यमें जितना मिलना है, उतना ही धन हमें मिलेगा, अधिक नहीं मिलेगा। भगवान्‌के विधानसे अधिक मिल नहीं सकता। हम पाप नहीं करेंगे तो भी भगवान् छप्पर तोड़कर हमें दे जायँगे। इसलिये हमें झूठ-कपट-चोरी आदि पाप कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि हमारे भाग्यमें जो होगा वह कहीं नहीं जायगा। अतः भगवान्‌पर और प्रारब्धपर विश्वास करना चाहिये। जिसको ईश्वरपर और भाग्यपर विश्वास होता है, वह कभी झूठ नहीं बोलता। रुपयोंके लिये क्या, प्राणके लिये भी झूठ नहीं बोलता। आप लाभके समय यानी अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छासे जो लाभ होता है उसमें ईश्वरकी दया समझते हैं सो तो ठीक है, वह भी दया है। किंतु अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छासे जो हानि प्रतीत होती है, उसमें ईश्वरकी विशेष दया समझनी चाहिये।

परमेश्वरने हमको मनुष्यका शरीर, बल, बुद्धि, धन और ऐश्वर्य आदि केवल आत्माके कल्याणके लिये ही दिये हैं। यदि हम उनका उपयोग ठीक नहीं करते हैं या उसके विपरीत करते हैं तो हम अपने-आपको धोखा देते हैं। अर्थात् जिस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मनुष्य-शरीर और धनादि पदार्थ आपको दिये गये हैं, उनको उसी काममें लगाना चाहिये। नहीं लगाते हैं तो आप अपनेको धोखा देते हैं। एक भाई आपको दो हजार रुपये इसलिये दे गया कि इन रुपयोंसे

कपड़ा खरीदकर आप साधुओंको बाँट दें। आपने उन रुपयोंसे साधुओंको कपड़ा तो नहीं बाँटा, किंतु वे रुपये आपने अपनी लड़की, दामाद या भानजेको दे दिये तो आपने यह उस धनीको धोखा दिया। साधुओंकी सेवामें न लगाकर गायोंकी सेवामें लगा दिया, तब भी आपने एक प्रकारसे अनुचित किया। क्यों अनुचित किया ? इसलिये कि वे तो कह गये थे कि साधुओंकी सेवामें लगाओ और आपने पशुओंकी सेवामें लगा दिया तो यह भी ठीक नहीं किया और बेटी-दामादके स्वार्थमें रुपये लगा दिये, तब तो बड़ा भारी अन्याय किया। इसी प्रकार भगवान्‌ने जो हमें धन दिया, चीजें दीं, अपनी आत्माके कल्याणके लिये, भक्तिके लिये; उन्हें उस काममें न लगाकर ऐश-आराम, भोगमें लगाते हैं तो हम चोरी करते हैं। देवतालोग हमलोगोंको वर्षाके द्वारा जल-अन्न आदि देते हैं, उन्हें देवताओंको दिये बिना अर्थात् उनकी पूजा, यज्ञ, होम आदि किये बिना हम ऐश-आरामादि भोगोंमें लगाते हैं, तो हम चोर हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—**'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥** (३। १२का उत्तरार्ध) — 'देवताओंका दिया हुआ देवताओंको बिना दिये जो भोग करता है, वह चोर है।' माता-पिता पुत्रके लिये बहुत-सा धन छोड़कर मर गये; इस उद्देश्यसे कि यह मरनेके बाद हमारे लिये श्राद्ध-तर्पण करेगा, किंतु जो नालायक लड़का माता-पिताके मरनेके बाद उनका श्राद्ध-तर्पण नहीं करता है, उसे उनकी आत्मा दुराशिष देती है कि हम इतना धन छोड़कर आये, किंतु यह नालायक सौ रुपयेमें एक रुपया भी हमारे काममें नहीं लगाता। यह माता-पिताकी चोरी है। उनके उद्देश्यके अनुकूल काममें धन न लगाना ही चोरी है। वे तो लाचार हैं, अब कर ही क्या सकते हैं ? तुम्हारी इच्छा है, तुम जो चाहो, करो; किंतु

उनकी इच्छाके विपरीत करना विश्वासघात है। कोई हमारे पास गहना रख जाय, फिर वह आवे और हम उसे न दें तो यह विश्वासघात है। इसी प्रकार माता-पिताका हक यदि हम नहीं देते तथा देवताओंको उनका हक नहीं देते तो हम विश्वासघात करते हैं।

जिस प्रकार हम माता-पिताका दिया हुआ माता-पिताको बिना दिये, बिना श्राद्ध-तर्पण किये भोगते हैं तो हम माता-पिताके चोर हैं; इसी प्रकार भगवान्‌के दिये हुए पदार्थोंको भगवान्‌के लिये भगवान्‌की भक्ति आदि साधनोंमें नहीं लगाते हैं तो हम भगवान्‌के चोर हैं। हमें मनुष्य-शरीर, बल, बुद्धि, धन और ऐश्वर्य आदि जो कुछ भी वर्तमानमें प्राप्त है, उसको भगवान्‌के काममें लगाना चाहिये अर्थात् भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही हमें सब काम करने चाहिये। अतएव जो कुछ करें, वह भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार करें और भगवान्‌के विधान-के अनुसार जो कुछ लाभ-हानि आकर प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर प्रसन्न हों। माँ हाथसे मारती है तो भी समझदार लड़का यही समझता है कि 'इसमें माँकी कृपा है, मेरा स्वभाव सुधारनेके लिये मुझे मारती है।' इसी प्रकार भगवान् कभी मारें भी तो भक्तको यही समझना चाहिये कि भगवान्‌की कृपा है, भगवान् हमारे सुधारके लिये ऐसा करते हैं। मारका मतलब है कि जिसे हम अनिष्ट समझते हैं, वैसा फल मिलना। जैसे लड़का मर गया, धन चला गया, चोरी हो गयी; इसी प्रकार अन्य जो हानि होती है, वह भगवान्‌के हाथकी मार है। इसमें भगवान्‌की विशेष दया भरी हुई है। यह रहस्य हमारी समझमें आ जाय तो फिर हमारे लिये सर्वदा सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द है। अनुकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें तो सभीको आनन्द होता है, किंतु प्रतिकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें भी हर समय भगवान्‌की

दयाका दर्शन करना चाहिये। जैसे छोटा बच्चा माँपर निर्भर रहता है, किसी छः महीनेके लड़केको उठाकर माँ गङ्गामें फेंक आवे तो वह क्या कर सकता है, वह बिलकुल माँपर निर्भर है, माँ मारे, चाहे पुचकारे; इसी प्रकार हम अपनेको एकमात्र भगवान्‌पर छोड़ दें अर्थात् एक उन्हींपर निर्भर हो जायँ कि भगवान् हमें मारें चाहे तारें, हमारा सब प्रकारसे मङ्गल-ही-मङ्गल है। जब दयालु माँ भी अपने बच्चेका कभी कोई अनिष्ट नहीं कर सकती, तब परमदयालु भगवान् क्या कभी कर सकते हैं। जब कभी बच्चेको फोड़ा या व्रण हो जाता है, तब माँ डाक्टरको बुलाकर चिरा देती है। लड़का रोता है, पर माँ उसके रोनेकी परवा न करके बलात् चिरा देती है; क्योंकि माँ उसे भीषण व्रणके विषसे मुक्त करके सर्वथा नीरोग तथा सुखी देखना चाहती है। इसी प्रकार भगवान् भी हमारे हितके लिये ही, हम जिसे दुःख समझते हैं, उसे दे रहे हैं। उस दुःखमें भी हमको विश्वासपूर्वक खूब आनन्द मानना चाहिये अर्थात् वह बात हमारी समझमें नहीं भी आवे तो भी इतना विश्वास अवश्य कर लें कि जो कुछ भी भगवान्‌की मर्जीसे हो रहा है, उसमें आनन्द-ही-आनन्द है।

एक बात तो पहले यह कही गयी थी कि हमारे द्वारा जो भजन, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय होता है, उससे हमको अवश्य विशेष लाभ होता है अर्थात् उससे निश्चय ही सद्गुण-सदाचारोंकी वृद्धि होती है। सद्गुण-सदाचारोंकी वृद्धि होनेसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश अवश्य ही होता है। प्रतिदिन अपने हृदयमें उन्नतिको देखते रहना चाहिये। इस प्रकार देखनेसे वह प्रत्यक्ष दीख सकती है और उससे उत्साह बढ़ सकता है। जैसे व्यापार करनेवालेके प्रतिदिन रुपये पैदा हों, आज सौ बढ़े, कल दो सौ, परसों तीन सौ बढ़े तो यह देखकर उसे नित्य

नयी-नयी प्रसन्नता होती है, दिनों-दिन उत्साह बढ़ता जाता है; इसी प्रकार यह जो परमात्माकी प्राप्तिके विषयका व्यापार है, इसको दिन-प्रतिदिन देखते रहेंगे तो उत्तरोत्तर प्रसन्नता बढ़ती जायगी। इस तरह आपको दिन-प्रतिदिन उन्नतिका अनुभव करना चाहिये। दिनमें भी प्रतिक्षण उन्नतिका अनुभव करे। पहले क्षणमें जो कुछ करे, उसके अगले क्षणमें साधन तेज होना चाहिये। कम क्या हो ? साधन कमजोर हो तो उसके लिये पश्चात्ताप करना चाहिये, जिससे भविष्यमें ऐसी भूल न होने पावे। जब भगवान्‌का हमारे सिरपर हाथ है, उनकी अपार दया है, तब फिर हमारी तो उत्तरोत्तर उन्नति अवश्य ही होनी चाहिये और फिर उस उन्नतिके फलको भी देखते रहना चाहिये । वह फल यह कि दुर्गुण-दुराचारोंका विनाश और सद्गुण-सदाचारोंकी वृद्धि। इस प्रकार प्रतिक्षण देखनेपर आपको प्रत्यक्ष ही लाभ दिखायी दे सकता है।

दूसरी बात यह कि सुख-दुःखकी प्राप्तिमें तथा लाभ-हानिकी प्राप्तिमें ईश्वरकी दया समझनी चाहिये। जो भी कुछ घटना हो रही है, उस सबमें ईश्वरकी दया ही भरी है अर्थात् उस सबमें दयाका दर्शन करना चाहिये। भगवान्‌के ऊपर निर्भर हो जानेपर, उनके शरण हो जानेपर मनुष्यमें वीरता, धीरता, गम्भीरता आदि भाव अपने-आप आ जाते हैं। यह समझ ले कि 'मैं भगवान्‌के शरण हूँ, मुझे किस बातकी चिन्ता है, मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं।' जिस प्रबल पराक्रमी न्यायकारी तथा दयापरायण किसी राजाके राज्यमें कोई मनुष्य राजाकी शरण ले लेता है, राजापर ही निर्भर हो जाता है और राजा उसको आश्रय दे देता है तो फिर वह निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है । उसके मनमें यह भाव होता है कि राजाकी मुझपर विशेष दया है, मुझे इस राजाके राज्यमें क्या भय है ? इसी प्रकार भगवान्‌पर निर्भर करनेवाला भी निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है।

जब नचिकेता यमराजके पास गया और दो वर प्राप्त कर चुका, तब यमराजने कहा—'तुमने दो वर तो माँग लिये, अब तीसरा वर अपने इच्छानुसार और माँग लो।' उसने कहा— 'मैं यही वर माँगता हूँ कि मरनेके बाद आत्मा है या नहीं, यह बतलाइये।' यमराज बोले—'इस बातको छोड़कर और कोई वर माँग लो; क्योंकि यह देवताओंके लिये भी दुर्विज्ञेय है। तुम इच्छानुसार सदाके लिये जीवन माँग लो अथवा इन रथ और बाजोंसहित स्त्रियोंको ले जाओ या और कोई स्वर्गके भोग-पदार्थ ले जाओ जो पृथ्वीपर नहीं हैं।' इसके उत्तरमें नचिकेताने कहा—'आप ये वाहन, नाच-गान तथा भोग आदि अपने ही पास रखें। मेरा वर तो वही है कि जिससे आत्माका ज्ञान हो जाय। आपने जो यह कहा कि सदाके लिये जीवन माँग लो सो जबतक आपका शासन है, तबतक मुझे मृत्युका भय ही क्या है!' (कठ०, उप० १।१।१९-२७)।

इसी प्रकार जब यह समझ लिया कि भगवान्‌का हमारे सिरपर हाथ है, तब फिर भय ही किस बातका है। यमराजकी कृपा होनेपर भी कोई भय नहीं है तो फिर भगवान्‌की कृपा हो जाय तब तो बात ही क्या है। वे तो यमराजके भी यमराज हैं, मृत्युके भी मृत्यु और कालके भी काल हैं। फिर हमें भय किस बातका? इस प्रकार हम अपनेको भगवान्‌पर छोड़ दें अर्थात् भगवान्‌पर निर्भर हो जायँ। जैसे बिल्लीका बच्चा बिल्लीपर ही निर्भर है, बिल्ली उसे इच्छानुसार मुँहमें लिये फिरती है, उसी मुखमें वह चूहेको पकड़ती है, उसीमें अपने बच्चेको; वही दाँत, वही मुँह है; पर अपने बच्चेको कितने प्रेमसे पकड़ती है, जरा भी कष्ट नहीं देती; वैसे ही हम भगवान्‌पर निर्भर हो जायँ। फिर हमें भय ही किस बातका है। यह सोचकर हमें भगवान्‌पर निर्भर हो जाना चाहिये, जैसे भक्त प्रह्लाद भगवान्‌पर निर्भर थे। हिरण्यकशिपु जो कुछ भी

अत्याचार करता था, प्रह्लादको किसी बातकी चिन्ता नहीं रहती थी, वह भगवान्‌पर ही निर्भर था। भगवान् जो कुछ इच्छा हो, करें, किंतु क्या कोई उसका बाल भी बाँका कर सका ? नहीं कर सका। किसी कविने कहा भी है—

जाको राखे साँइयाँ, मार सकै नहिं कोय।
बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय॥

मनुष्यकी तो बात ही क्या, सारा संसार भी उसका वैरी हो जाय तब भी कोई उसका बाल बाँका नहीं कर सकता। अतः यह समझना चाहिये कि जब हम भगवान्‌पर निर्भर हैं, तब हमें भय किस बातका है। अतएव हमें भगवान्‌पर ही निर्भर रहना चाहिये।

मैं आपको फिर सावधान करके यह कहना चाहता हूँ । जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्यायके समय एक तो यह निश्चय रखना चाहिये कि इनसे हमें अवश्य लाभ होगा तथा उसकी ओर हर समय देखते रहना चाहिये कि हमें लाभ हो रहा है न। लाभको बराबर होते हुए देखना चाहिये और यह समझना चाहिये कि इससे सद्गुण-सदाचार आनेके साथ ही दुर्गुण-दुराचार भाग जाते हैं न । साथ ही ईश्वरकी दया, ईश्वरका प्रेम, ईश्वरका हमारे सिरपर हाथ समझकर हर समय प्रसन्न रहना चाहिये तथा ईश्वरके स्वरूपको देख-देखकर और ईश्वरकी दया और प्रेमको देख-देखकर हर समय हँसते रहना चाहिये, प्रमुदित होते रहना चाहिये। इस प्रकार अभ्यास करनेसे आपको प्रत्यक्ष लाभ हो सकता है। यह आप करके देख लें, यह आजमाइश की हुई बात है।

इसके सिवा और भी एक रहस्यकी बात बतायी जाती है। आप ऐसी धारणा करें कि मानो भगवान् आकाशमें विराजमान हो रहे हैं और

हम मनसे उनका दर्शन कर रहे हैं। भगवान् गुणोंके सागर हैं और बादल जैसे जलकी वर्षा करता है तथा चन्द्रमा जैसे अमृतकी वर्षा करता है, इसी प्रकार भगवान् आकाशमें स्थित होकर अपने गुणोंकी वर्षा कर रहे हैं। दया, क्षमा, शान्ति, आनन्द, समता, प्रेम, ज्ञान, वैराग्यकी अनवरत हमपर वर्षा हो रही है। जलकी जो वर्षा होती है, उसका तो आकार होता है, किंतु यह निराकार है। जैसे चन्द्रमाकी रश्मियोंसे जो अमृतकी वर्षा होती है, वह निराकार है, जैसे सूर्यकी धूप निराकार है, सूर्यकी धूपसे शीतकालमें धूपमें बैठनेसे शीतका निवारण हो जाता है; इसी प्रकार भगवान्‌के प्रभाव और गुणोंके समूहसे दुर्गुण-दुराचारोंका विनाश होकर सद्गुण-सदाचारोंका विकास हो जाता है। भगवान् हमलोगोंपर अपने गुणोंका प्रभाव डाल रहे हैं, यह समझकर हर समय हँसता रहे, प्रसन्न होता रहे। हर समय जो प्रसन्नता और आनन्द है, यह सब भगवान्‌से ही है। भगवान् हमारे मन, बुद्धि, इन्द्रियोंमें, शरीरके रोम-रोममें सब जगह शान्ति, आनन्द, प्रसन्नता, ज्ञान, चेतनता उत्तरोत्तर खूब बढ़ा रहे हैं। इस प्रकार हम मनमें धारणा करें और मनसे परमात्माका ध्यान करें। परमात्माके ध्यानसे हमको प्रत्यक्ष लाभ हो रहा है, उसका हम अनुभव करें तो हमें प्रत्यक्ष लाभ प्रतीत हो सकता है।

इससे भी बढ़कर एक बात और है— जैसे कोई नेत्रोंपर हरे रंगका चश्मा चढ़ा लेता है तो उसे यह नाना प्रकारका रंग-विरंगा संसार हरा-ही-हरा दीखने लग जाता है, यह चश्मा तो चढ़ता है नेत्रोंपर, ऐसे ही भगवद्भावका चश्मा चढ़ाना चाहिये बुद्धिपर । जैसे आँखोंपर हरे रंगका चश्मा चढ़ानेसे सारा संसार हरा-ही-हरा दीखता है, उसी प्रकार बुद्धिपर हरिके रंगका चश्मा चढ़ा लेनेसे सर्वत्र हरि-ही-हरि दीख सकते हैं।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

हम जो दृश्य पदार्थोंको संसारके रूपमें देख रहे हैं, उसे भगवान्‌के रूपमें देखने लगें तो यह संसार हमको भगवान्‌के रूपमें ही दीख सकता है तथा चेष्टामात्रको भगवान्‌की लीला समझ लेनेपर वह सब चेष्टामात्र भगवान्‌की लीलाके रूपमें दीख सकती है। फिर ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो जो कुछ चेष्टा हो रही है, वह साक्षात् भगवान्‌की लीला हो रही है और वह लीला स्वयं भगवान् नाना रूप धारण करके कर रहे हैं। ऐसा समझ लेनेपर हमें हर समय प्रसन्नताका अनुभव हो सकता है; क्योंकि ये जितने भी मनुष्य हैं, सब भगवान्‌के परिकर हैं यानी भगवान्‌के साथ आये हुए हैं। भगवान् ही इनमें छिपकर क्रीडा कर रहे हैं। हम भी इनमें शामिल हैं। हम सब मिलकर ही भगवान्‌के साथ क्रीडा कर रहे हैं। भगवान्‌की लीला हो रही है, ऐसा भाव हम धारण करें। जिस प्रकार गोपियोंको भगवान्‌के साथ गाने-बजाने और नाचनेमें प्रसन्नता होती थी, वैसी प्रसन्नता हमें भी हो सकती है। फिर चिन्ता, शोक, भय हमारे पास भी नहीं आ सकते। ऐसा आप अभ्यास करके देख लें। आपको इसमें प्रत्यक्ष शान्ति और आनन्द मिल सकता है, प्रत्यक्ष आपकी उन्नति हो सकती है। जैसे

दूधमें उफान आता है, इस प्रकार प्रत्यक्ष उन्नति देखनेमें आ सकती है। दूधके उफानमें तो पोल है, ऊपर-ऊपर तो उफान है, भीतरमें कुछ नहीं, थोड़ी देरमें दूधका उफान आकर दूध भी समाप्त हो जाता है; पर यह तो इस प्रकारकी उन्नति है कि वास्तवमें भीतरसे ठोस है, नित्य है और उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है, जिससे प्रत्यक्ष जीवन बदल जाता है।

——::×::——

भगवान् श्रीकृष्णका प्रभाव

भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्ण ब्रह्मके अवतार थे या यों कहिये कि साक्षात् पूर्ण ब्रह्म ही श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए हैं; उनके दिव्य गुण, प्रभाव और आश्चर्यमयी उपदेशप्रद मधुर लीलाओंसे हमारे प्राचीन ग्रन्थ भरे पड़े हैं। श्रीमद्भागवत, महाभारत, जैमिनीय-अश्वमेध और अन्यान्य पुराण आदिमें भगवान्‌के प्रेम, प्रभाव और ऐश्वर्यकी अलौकिक बातें स्थान-स्थानपर प्रसिद्ध हैं। जन्मते ही चतुर्भुजरूपसे प्रकट होकर फिर छोटा बालक बन जाना, यशोदा मैयाको मुखके अन्दर ब्रह्माण्ड दिखलाना, गोप-बालक और बछड़ोंकी नवीन सृष्टि करना, अक्रूरजीको मार्ग और जलके अन्दर एक ही साथ दोनों जगह एक ही रूपमें दर्शन देना, कंस आदि महान् असुरोंका लीलामात्रसे विनाश कर देना, गुरु, ब्राह्मण और देवकीजीके मृत पुत्रोंको ला देना, विविधरूपसे एक ही साथ सम्पूर्ण रानियोंके महलोंमें निवास करना, द्रौपदीके स्मरण करते ही उसका चीर बढ़ा देना, दुर्वासाजीके आतिथ्यके समय संकटापन्न द्रौपदीके स्मरण करते ही अचानक वहाँ प्रकट हो जाना, कौरवोंकी सभामें विराट्‌रूप दिखाना, प्रिय भक्त अर्जुनको भक्ति और ज्ञानका रहस्य समझाते हुए उसे विश्वरूप और चतुर्भुजरूपसे दर्शन देना, अर्जुनकी रक्षाके लिये जयद्रथवधके समय सूर्यको अस्त दिखाकर फिर सूर्यको प्रकट कर देना, युद्धके अन्तमें अर्जुनको पहले रथसे नीचे उतारकर फिर स्वयं उतरते ही रथका जलकर भस्म होते दिखलाना और यह कहना कि यह रथ तो भीष्म, द्रोणादिके बाणोंसे पहले ही दग्ध हो चुका था, परन्तु मैंने अपने संकल्पसे इसे टिका रखा था;

शरशय्यापर पड़े हुए भीष्मकी सारी पीड़ाओंको हरकर उन्हें अतुल बल, तेज और ज्ञान प्रदान करना, ऋषि उत्तङ्कको अपना अलौकिक प्रभाव और ऐश्वर्ययुक्त रूप दिखलाना, मृत परीक्षित्‌को जीवित करना, अश्वमेधयज्ञके समय पाण्डवोंके स्मरण करते ही द्वारिकासे अचानक रातके समय आ जाना, सुधन्वासे लड़ते हुए अर्जुनके द्वारा याद करनेपर तुरन्त उपस्थित होकर रथकी लगाम हाथमें ले लेना और शरीरसहित ही परमधाम पधारना आदि अनेकों अद्भुत कर्मोंकी कथाओंके पढ़नेसे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ऐसे कर्म मनुष्यके लिये तो असम्भव हैं ही, देवताओं और योगियोंकी शक्तिसे भी अतीत हैं। इस छोटे-से लेखमें अति संक्षेपके साथ भगवान्‌के कुछ अद्भुत कर्मोंका दिग्दर्शन कराया जाता है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी प्रेम और आनन्दकी तो मूर्ति ही थे। उनका अवतार प्रेम और धर्मके संस्थापन और प्रचारके लिये ही हुआ था। भगवान्‌ने विशुद्ध प्रेमका जो विशाल प्रवाह बहा दिया उसे एक बार समझ लेनेपर ऐसा कौन है जिसका हृदय द्रवित और आनन्दसे पुलकित न हो जाय। परन्तु उनकी प्रेममयी लीला और उनके गहन प्रेमके तत्त्वका ज्ञान उनके अनुग्रहसे ही हो सकता है। श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें गोपियोंके साथ भगवान्‌के प्रेमके व्यवहारका जो वर्णन आता है, उसे पढ़नेपर मनुष्यके हृदयमें अनेक प्रकारकी शंकाएँ उत्पन्न होती हैं। अक्षरोंके अर्थसे तो उस प्रेममें विषय-विकार ही टपकता है, परन्तु यह प्रसङ्ग विचारणीय है। यदि गोपियोंके साथ भगवान्‌का विषय-जन्य अनुचित प्रेम होता तो उद्धव-सरीखे महात्मा और गौराङ्ग महाप्रभु-सदृश त्यागी भक्त और सन्तजन उनकी कभी प्रशंसा नहीं करते। गोपियोंका प्रेम मूर्खतापूर्ण नहीं था, वे श्रीकृष्णको साक्षात्

भगवान् समझती थीं। स्वयं गोपियोंके वाक्य हैं—

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥

(श्रीमद्भा० १०। ३१। ४)

'हे सखे! ब्रह्माकी प्रार्थनापर आपने विश्वके पालनके लिये सात्वत (यदु) कुलमें अवतार लिया है। आप केवल यशोदाके ही पुत्र नहीं हैं, वास्तवमें आप समस्त प्राणियोंके अन्तरात्माके साक्षी हैं।' इससे सिद्ध होता है कि उनका प्रेम विशुद्ध और ज्ञानपूर्ण था। उनके प्रेमकी सभी सन्त-पुरुषोंने सराहना की है। इतना ही नहीं, स्वयं भगवान्‌ने भी उनके प्रेमकी महिमा गायी है और अर्जुनसे कहा है कि—

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम्॥

(आदिपुराण)

'हे पार्थ! जो गोपियाँ अपने शरीरकी 'मेरा (कृष्णका) है' ऐसा समझकर ही सँभाल रखती हैं उनसे बढ़कर मेरे निगूढ़ प्रेमका पात्र और कोई नहीं है।'

इसके अतिरिक्त भगवान् स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं, उनमें तो विषय-विकारकी आशंका ही नहीं की जा सकती। कोई यह पूछे कि फिर भागवत आदि पुराणोंमें वर्णित वैषयिक प्रसङ्गोंका क्या अर्थ है। मेरी साधारण बुद्धिके अनुसार तो इसका यही उत्तर है कि उन शब्दोंका मतलब समझनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है; इतिहास, स्मृति, पुराण आदि ग्रन्थोंमें जहाँ कहीं भी ईश्वरपर झूठ, कपट, व्यभिचार आदि दोषोंका आरोप प्रतीत हो और मद्य, मांस आदिके सेवन तथा असत्य, दम्भ, व्यभिचार आदि दोषोंका विधान मिले, उन पंक्तियोंको छोड़कर ही शेष

सदुपदेशको ग्रहण करना और तदनुसार आचरण करना चाहिये।

संसार परिवर्तनशील है। देश, काल, वस्तु आदिका प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। पुरानी घटनाओंमें समयका बहुत व्यवधान पड़ जानेके कारण समयके परिवर्तनसे शास्त्रोंके वर्णनकी सारी बातोंका पूरा मतलब ठीक-ठीक समझमें नहीं आता। इसके सिवा दीर्घकालतक देशपर विधर्मियोंका आधिपत्य रहनेके कारण हमारे शास्त्रोंमें धर्मके विपरीत झूठ, कपट, चोरी आदि कुभाव घुसेड़ दिये गये हों तो भी कोई आश्चर्य नहीं है। अतएव पुराणोंकी सभी बातोंको अक्षरशः समझाने और उनकी पूर्वापर पूरी शृङ्खला बैठाकर उन्हें मिथ्या या सत्य सिद्ध करनेका दायित्व हम साधारण लोगोंको अपने ऊपर नहीं लेना चाहिये। क्योंकि हमलोग सर्वज्ञ नहीं हैं। इसके सिवा भगवान् संसारमें अवतार ग्रहण करके जो लीला करते हैं उसमें कहीं शास्त्रकी मर्यादाके विपरीत दोषका आभास दिखलायी दे तो इस विषयमें मनमें यही निश्चय रखना चाहिये कि भगवान्‌में कोई दोष कभी हो नहीं सकता। भगवान् और उनके कर्म सर्वथा दिव्य हैं। साथ ही पुराण-इतिहास आदिको भी असत्य नहीं कहा जा सकता।

भगवान्‌के लीलामय दिव्य जन्म-कर्मका रहस्य सम्पूर्णरूपसे तो देवता और महर्षियोंकी भी समझमें नहीं आ सकता। भगवान्‌ने स्वयं ही कहा है—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥

(गीता १०।२)

'मेरी उत्पत्तिको अर्थात् विभूतिसहित लीलासे प्रकट होनेको न देवतालोग जानते हैं और न महर्षिगण ही जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओं और महर्षियोंका भी आदिकारण हूँ।' यद्यपि

इतिहास-पुराण आदि शास्त्रोंके रचयिता ऋषि तत्त्वको जाननेवाले सिद्ध महापुरुष और योगी थे, तथापि वे भी भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णकी लीला और उनके प्रभावको सम्पूर्णरूपसे वर्णन करनेमें असमर्थ थे। फिर भी उन महात्माओंने कृपा-परवश हो जो कुछ लिखा है सो सत्य ही है, अल्पबुद्धि होनेके कारण हमलोग उनके भावोंको ठीक-ठीक समझ नहीं सकते और अपनी अल्पज्ञताका दोष उन महात्माओंके मत्थे मढ़ते हैं।

महाभारत आदिसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि अवताररूपमें प्रकट हुए भगवान्‌को सब ऋषिगण नहीं पहचान सकते थे। उनमेंसे कोई-कोई तत्त्ववेत्ता महात्मा महर्षि ही भगवान्‌की कृपासे उनको जानते थे—श्रीरामचरितमानसमें भी यह बात आती है—

तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० १२७। २)

क्योंकि भगवान् जिस शरीरमें जन्म ग्रहण करते हैं उसी शरीरके समान सब चेष्टा करते हैं। जब भगवान् मनुष्य-शरीरमें अवतीर्ण होते हैं तब मनुष्यके अनुसार चेष्टा करते हैं। उस समय उनके मनुष्योचित कर्मोंको देखकर मुनिगणोंको भी भ्रम हो जाता है, फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? श्रीवसिष्ठजीने कहा है—

देखि देखि आचरन तुम्हारा। होत मोह मम हृदयँ अपारा॥

(रा० च० मा० उत्तर० ४८। २)

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वके ५३वें अध्यायमें कथा है कि कौरव-पाण्डवोंके युद्धकी समाप्तिके बाद युधिष्ठिर महाराजसे आज्ञा लेकर भगवान् श्रीकृष्ण हस्तिनापुरसे जा रहे थे। मार्गमें मरुस्थलमें निवास करनेवाले गुरु-भक्त तपस्वी ऋषि उत्तङ्कसे उनकी भेंट हुई। पाँच पाण्डवोंके सिवा अन्य सारे कौरवोंके विनाशकी बात भगवान्

श्रीकृष्णके मुखसे सुनकर ऋषि उत्तङ्कको बड़ा क्रोध आ गया और वे उनसे बोले कि 'आपने सब प्रकारसे शक्तिसम्पन्न होनेपर भी युद्धका निवारण नहीं किया, इसलिये मैं आपको शाप दूँगा।' भगवान् बड़े दयालु थे, उन्होंने मुनिको शाप देनेसे रोककर कहा कि 'हे तपस्विश्रेष्ठ ! तुमने अपने गुरुको सेवा करके प्रसन्न किया है, जिससे तुम्हारे तपका बड़ा तेज है, मैं उस तपका नाश कराना नहीं चाहता, मुझपर तुम्हारे शापका कोई असर नहीं होगा, शाप देनेसे तुम्हारे तपका नाश हो जायगा। इसलिये तुम मेरे अध्यात्म-विषयक आत्मतत्त्व और प्रभावकी बातें सुनो।' तदनन्तर ५४ वें अध्यायमें ऋषि उत्तङ्कके पूछनेपर भगवान्‌ने अपने अवतार लेनेका कारण तथा प्रभाव और स्वरूपका वर्णन किया—

बह्वीः संसरमाणो वै योनीर्वर्तामि सत्तम।
धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च॥ १३॥
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव।
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रोऽथ प्रभवाप्ययः॥ १४॥
भूतग्रामस्य सर्वस्य स्रष्टा संहार एव च।
अधर्मे वर्तमानानां सर्वेषामहमच्युतः॥ १५॥
धर्मस्य सेतुं बध्नामि चलिते चलिते युगे।
तास्ता योनीः प्रविश्याहं प्रजानां हितकाम्यया॥ १६॥

'हे द्विजवर, भार्गव ! मैं धर्मकी रक्षा और स्थापना करनेके लिये बहुत-सी योनियोंमें उन-उन योनियोंके वेष और रूपोंसे युक्त हुआ तीनों लोकोंमें अवतार धारण करता हूँ। मैं ही विष्णु, ब्रह्मा और इन्द्र हूँ। मैं ही उत्पत्ति और प्रलयरूप हूँ तथा सकल भूतसमुदायका रचनेवाला और संहार करनेवाला भी मैं ही हूँ। मैं अच्युत परमात्मा परिवर्तनशील

युगोंमें प्रजाके हितकी कामनासे भिन्न-भिन्न योनियोंमें प्रवेश करके अधर्ममें बर्तनेवाले समस्त प्राणियोंके लिये धर्मकी मर्यादाको दृढ़ करता हूँ।'

यदा त्वहं देवयोनौ वर्तामि भृगुनन्दन।
तदाहं देववत्सर्वमाचरामि न संशयः॥ १७॥

'हे भृगुनन्दन! जब मैं देवयोनिमें प्रकट होता हूँ तब निःसन्देह देवताओंके समान ही समस्त आचरण करता हूँ।'

यदा गन्धर्वयोनौ वा वर्तामि भृगुनन्दन।
तदा गन्धर्ववत्सर्वमाचरामि न संशयः॥ १८॥

'हे भार्गव! जब मैं गन्धर्वयोनिमें प्रकट होता हूँ तब निःसन्देह गन्धर्वोंके समान ही समस्त आचरण करता हूँ।'

नागयोनौ यदा चैव तदा वर्तामि नागवत्।
यक्षराक्षसयोन्योस्तु यथावद्विचराम्यहम्॥ १९॥

'जब मैं नागयोनिमें उत्पन्न होता हूँ तो नागों-जैसा बर्ताव करता हूँ और जब यक्ष-राक्षसोंकी योनियोंमें प्रकट होता हूँ तो उन्हींके अनुरूप आचरण करता हूँ।'

मानुष्ये वर्तमाने तु कृपणं याचिता मया।
न च ते जातसम्मोहा वचोऽगृह्णन्त मे हितम्॥ २०॥

'इस समय मनुष्ययोनिमें उत्पन्न होकर मनुष्य-जैसा आचरण करते हुए मैंने कौरवोंसे सन्धिके लिये दीनतापूर्वक प्रार्थना की; परन्तु मोहग्रस्त होनेके कारण उन्होनें मेरी हितकर बात नहीं मानी।'

इस प्रकार भगवान्‌के प्रभाव और स्वरूपकी बात सुनकर ऋषिको भगवान् श्रीकृष्णके साक्षात् परमात्मा होनेका पूर्ण विश्वास हो गया और ऋषिने विनीतभावसे भगवान्‌से विश्वरूप-दर्शन करानेके लिये प्रार्थना

की। ऋषिकी प्रार्थनापर भगवान्‌ने अनुग्रह करके उन्हें अपना विश्वरूप दिखलाया, जिसे देखकर उत्तङ्क-ऋषि भगवान्‌की स्तुति करने लगे। तदनन्तर ऋषिको वरदान देकर भगवान् द्वारिकापुरीको पधार गये।

ऋषि उत्तङ्कके इस दृष्टान्तसे यह सिद्ध होता है कि भगवान्‌की कृपा बिना यज्ञ, दान, तप और गुरु-सेवन आदि करनेवाले तपस्वी ऋषि भी भगवान्‌के अवतार-विग्रहको पहचान नहीं सकते। भगवान् दया करके जिनको अपना परिचय देते हैं, वे ही उन्हें पहचान सकते हैं और फिर उनकी कृपासे तद्रूप हो जाते हैं।

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥

(रा० चा० मा०, अयोध्या० १२७। २)

जबतक भगवान् स्वयं दया करके अपनेको नहीं जनाते, तबतक दूसरेके द्वारा जनाये जानेपर भी भगवान्‌को नहीं जाना जा सकता। संजयके बहुत कुछ समझाने और प्रभाव बतलानेपर भी धृतराष्ट्रने भगवान्‌को नहीं जाना। महाभारत उद्योगपर्वके ६८वें अध्यायमें कथा है—संजय दूत बनकर पाण्डवोंके पास जाते हैं और वहाँसे लौटकर भगवान् वेदव्यासजीकी आज्ञासे भगवान् श्रीकृष्णके प्रभाव और ईश्वर-सम्बन्धी तत्त्वका वर्णन करते हैं—

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥ ९॥

'जहाँ सत्य है, जहाँ धर्म है, जहाँ लज्जा है, जहाँ सरलता है वहीं श्रीकृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं वहीं जय है।'

पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिवं च पुरुषोत्तमः।
विचेष्टयति भूतात्मा क्रीडन्निव जनार्दनः॥ १०॥

'सब प्राणियोंके आत्मस्वरूप पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण खेल

करते हुए-से पृथिवी, अन्तरिक्ष और देवलोकको चेष्टायुक्त कर रहे हैं।'

स कृत्वा पाण्डवान्सत्रं लोकं सम्मोहयन्निव।
अधर्मनिरतान्मूढान्दग्धुमिच्छति ते सुतान्॥ ११॥

'वे ही भगवान्, लोगोंको मोहित करते हुए-से पाण्डवोंको निमित्त बनाकर अधर्मनिरत तुम्हारे मूर्ख पुत्रोंको भस्म करना चाहते हैं।'

कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्तयतेऽनिशम्॥ १२॥

'भगवान् केशव कालचक्र, जगच्चक्र और युगचक्रको अपनी योगशक्तिसे निरन्तर घुमाते हैं।'

कालस्य च हि मृत्योश्च जङ्गमस्थावरस्य च।
ईशते भगवानेकः सत्यमेतद्ब्रवीमि ते॥ १३॥

'मैं आपसे यह सत्य कहता हूँ कि वे भगवान् श्रीकृष्ण अकेले ही काल, मृत्यु और चराचर समस्त जगत्का शासन करते हैं।'

ईशन्नपि महायोगी सर्वस्य जगतो हरिः।
कर्माण्यारभते कर्तुं कीनाश इव वर्धनः॥ १४॥

'महायोगी श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जगत्का शासन करते हुए ही धन-धान्यादिकी वृद्धि करनेवाले किसानकी तरह कर्मोंका आरम्भ करते हैं।'

तेन वञ्चयते लोकान्मायायोगेन केशवः।
ये तमेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः॥ १५॥

'भगवान् केशव उस अपनी योगमायासे मनुष्योंको मोहित किये रहते ठगते हैं। जो मनुष्य केवल उन्हींकी शरणमें चले जाते हैं, वे उनकी मायासे मोहित नहीं होते।'

यह सुनकर धृतराष्ट्र संजयसे पूछते हैं कि 'माधव श्रीकृष्ण सब लोकोंके महान् ईश्वर हैं, इस बातको तू कैसे जानता है और मैं उन्हें

क्यों नहीं जानता ?' संजय कहते हैं, 'हे राजन् ! जिनका ज्ञान अज्ञानके द्वारा ढँका हुआ है, वे भगवान् श्रीकृष्णको नहीं जान सकते। आपमें वह ज्ञान नहीं है, इसलिये आप नहीं जानते, मैं जानता हूँ।' तदनन्तर उद्योगपर्वके ७०वें अध्यायमें फिर धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा कि 'हे संजय ! श्रीकृष्णके विषयमें मैं तुझसे पूछता हूँ, तू मुझे कमलनयन श्रीकृष्णकी कथा सुना, जिससे मैं श्रीकृष्णके नाम और चरित्रोंको जानकर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णको प्राप्त होऊँ।' इसके बाद संजयने श्रीकृष्णके नाम, गुण और प्रभावका अनेक श्लोकोंमें वर्णन किया तो भी धृतराष्ट्र भगवान् श्रीकृष्णको भलीभाँति नहीं पहचान सके। इससे यह बात सिद्ध होती है कि जिसपर भगवान्‌की दया होती है, वही भगवान्‌को पहचान सकता है।

भगवान्‌की प्रत्येक क्रियामें विलक्षण भाव भरा है। वे सर्वशक्तिसम्पन्न, बुद्धिके सागर और बड़े ही कुशल थे। उनकी कोई भी क्रिया या उनका एक भी संकल्प कभी निष्फल नहीं होता था। कहीं उनकी कोई चेष्टा निष्फल हुई है तो वह उनकी इच्छासे ही हुई है। उस निष्फलतामें बड़ा रहस्य भरा रहता है। भगवान् पाण्डवोंके दूत बनकर हस्तिनापुर गये और उनके सन्धिरूप कार्यकी सिद्धि नहीं हुई, इसमें यही कारण है कि उनकी सन्धि करानेकी इच्छा ही नहीं थी। यह बात दूत बनकर जाते समय द्रौपदीके साथ उनकी जो बातचीत हुई है, उससे स्पष्ट सिद्ध है। द्रौपदी उस समय अनेक विलाप करती हुई भगवान्‌से प्रार्थना करती है—

सुता द्रुपदराजस्य वेदिमध्यात् समुत्थिता।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी तव कृष्ण प्रिया सखी।
आजमीढकुलं प्राप्ता स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः।

महिषी पाण्डुपुत्राणां पञ्चेन्द्रसमवर्चसाम्।
सुता मे पञ्चभिर्वीरैः पञ्च जाता महारथाः।
अभिमन्युर्यथा कृष्ण तथा ते तव धर्मतः।
साहं केशग्रहं प्राप्ता परिक्लिष्टा सभां गता।
पश्यतां पाण्डुपुत्राणां त्वयि जीवति केशव।

(महा० उद्योग० ८२। २१—२४)

'हे कृष्ण! यज्ञवेदीसे उत्पन्न हुई राजा द्रुपदकी पुत्री, धृष्टद्युम्नकी बहिन, आपकी प्यारी सखी, आजमीढ-कुलमें ब्याही गयी महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू, इन्द्रके समान तेजस्वी पाँच पाण्डुपुत्रोंकी महारानी, उन पाँच वीरोंसे उत्पन्न पाँच महारथी पुत्रों (जो कि धर्मके नाते अभिमन्युके समान ही आपको प्रिय हैं,) की माता ऐसी मैं पाण्डुपुत्रोंके देखते हुए और हे केशव! आपके जीवित रहते हुए केश पकड़कर सभामें लायी गयी और दुःखित की गयी थी।'

जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु पाञ्चालेष्वथ वृष्णिषु।
दासीभूतास्मि पापानां सभामध्ये व्यवस्थिता॥ २५॥

'पाण्डुपुत्रोंके, पाञ्चालोंके और वृष्णियोंके जीवित रहते हुए भी पापियोंकी सभामें लायी जाकर मैं दासी बना ली गयी थी।'

निरमर्षेष्वचेष्टेषु प्रेक्षमाणेषु पाण्डुषु।
पाहि मामिति गोविन्द मनसा चिन्तितोऽसि मे॥ २६॥

'यह सब देखते हुए भी पाण्डव जब क्रोधरहित और निश्चेष्ट ही बने रहे तब 'हे गोविन्द! मेरी रक्षा करो' ऐसा मैंने मनसे चिन्तन किया था।'

अयं ते पुण्डरीकाक्ष दुःशासनकरोद्धृतः।
स्मर्तव्यः सर्वकार्येषु परेषां संधिमिच्छता॥ ३६॥

'हे पुण्डरीकाक्ष ! शत्रुओंके साथ सन्धि करते समय सब कामोंमें यह दुःशासनके हाथसे खींची हुई मेरी वेणी आपको याद रखनी चाहिये।'

दुःशासनभुजं श्यामं संछिन्नं पांसुगुण्ठितम्।
यद्यहं तु न पश्यामि का शान्तिर्हृदयस्य मे॥ ३९॥

'यदि मैं दुःशासनकी श्याम भुजाको कटकर धूलिमें सनी हुई नहीं देखूँगी तो मेरे हृदयको कैसे शान्ति मिलेगी?'

इत्युक्त्वा वाष्परुद्धेन कण्ठेनायतलोचना।
रुरोद कृष्णा सोत्कम्पं सस्वरं वाष्पगद्गदम्॥ ४२॥

'शोकावरुद्ध कण्ठसे इस प्रकार विलाप करके विशालनेत्रा द्रौपदी काँपती हुई गद्गद होकर उच्च स्वरसे रोने लगी।'

द्रौपदीके वचन सुनकर भगवान् दया करके कौरवोंको नष्ट करनेकी घोर प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं—

चलेद्धि हिमवाञ्छैलो मेदिनी शतधा फलेत्।
द्यौः पतेच्च सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत्॥ ४८॥

'भले ही हिमालय पर्वत विचलित हो जाय, पृथिवीके सैकड़ों टुकड़े हो जायँ, तारोंके सहित स्वर्ग गिर पड़े, पर मेरे वचन व्यर्थ नहीं हो सकते।'

सत्यं ते प्रतिजानामि कृष्णे वाष्पो निगृह्यताम्।
हतामित्राञ्श्रिया युक्तानचिराद् द्रक्ष्यसे पतीन्॥ ४९॥

'हे द्रौपदी ! अश्रुओंको रोको, मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि तू अपने पतियोंको शीघ्र ही राज्यश्रीसे युक्त और निहत-शत्रु अर्थात् जिनके शत्रु मर चुके हैं ऐसे देखेगी।'

इससे सिद्ध है कि भगवान्को युद्ध अवश्यमेव कराना था, केवल

संसारकी मर्यादा रखनेके लिये तथा अपने प्यारे पाण्डवोंका कलङ्क दूर करनेके लिये ही उनका हस्तिनापुर जाकर सन्धिके लिये चेष्टा करना समझा जाता है।

युद्धमें अस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा करके प्रिय भक्त भीष्मके लिये चक्र ग्रहण करनेमें भी उनकी इच्छा ही कारण है। भीष्मपर्वका यह प्रसङ्ग देखनेसे मालूम होता है कि यह बड़े ही रहस्य और वीर-रससे भरी हुई प्रेममयी लीला है। भीष्मपितामह बड़े ही भक्त और श्रद्धालु थे। उनकी प्रसन्नताके लिये ही भगवान्‌ने यह विचित्र क्रिया की। वास्तवमें भगवान्‌की सम्पूर्ण क्रियाएँ निर्दोष और दिव्य हैं। उनकी दिव्यताका जानना साधारण बात नहीं है।

भगवान्‌के अनन्त दिव्य गुणोंकी महिमा कौन गा सकता है? संसारमें क्षमा, दया, शान्ति आदि जितने गुण दीखते हैं, तेज, ऐश्वर्य आदि जितनी विभूतियाँ प्रतीत होती हैं, शक्ति और प्रताप आदि जितने उच्च भाव हैं, उन सबको भगवान् श्रीकृष्णके तेजके एक अंशका ही विस्तार समझना चाहिये। भगवान् स्वयं कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०।४१-४२)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त एवं कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई जान। अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को (अपनी योगमायाके) एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

——::×::——

नाम-रूप-लीला-धाम

महासर्गके पूर्वमें एक निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही थे। फिर महासर्गके आरम्भमें उन परमात्माकी अभिन्न शक्तिरूपा प्रकृतिमें, जिसे अव्याकृत माया कहते हैं, जीवोंके कर्मोंका फल भुगतानेके लिये स्वाभाविक ही क्षोभ उत्पन्न हुआ, जिससे वह स्वाभाविक ही तीन गुणोंमें विभक्त हो गयी। जिस प्रकार दही मथनेपर वह नवनीत और मट्ठा—इन दो अलग-अलग रूपोंमें परिणत हो जाता है, इसी प्रकार प्रकृतिमें क्षोभ होनेपर वह विद्या और अविद्या—इन दो रूपोंमें हो जाती है। इस तरह उसके तीन रूप हो जाते हैं अर्थात् उसमें उत्पन्न हुई हलचलरूप क्रिया तो रजोगुण है और उससे उत्पन्न होनेवाली विद्या सत्त्वगुण तथा अविद्या तमोगुण है। इन तीन गुणोंसे संयुक्त जो परमात्माका स्वरूप है, वह सगुण निराकार है। उसीसे आदि-सृष्टिका विस्तार होता है। सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहार करनेके लिये वही परमात्मा ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपमें प्रकट होते हैं तथा वही सगुण निराकार परमात्मा ही श्रीनृसिंह, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि सगुण-साकार-रूपोंमें प्रकट होकर युग-युगमें लीला करते हैं। जिस प्रकार आकाशमें परमाणुरूपसे स्थित जल ही पहले रसरूपमें होकर फिर स्थूल जलके रूपमें प्रकट होता है तथा जैसे परमाणुके रूपमें विद्यमान निराकार पृथ्वी ही गन्धरूपमें प्रकट होकर फिर साकार भूमिके रूपमें प्रादुर्भूत होती है, इसी प्रकार निर्गुण-निराकार ब्रह्म ही सगुण निराकार होकर फिर सगुण-साकाररूपमें प्रादुर्भूत होते हैं; परंतु जिस तरह जलका वह कारणभूत परमाणुरूप, सूक्ष्म रसरूप और स्थूल जलरूप—तीनों वस्तुतः जल ही

है तथा जिस तरह पृथ्वीका कारणभूत परमाणुरूप, सूक्ष्म गन्धरूप और स्थूल पृथ्वीरूप— वस्तुतः पृथ्वी ही है, उसी तरह निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकाररूपमें वस्तुतः वह एक परमात्मा ही है। उपर्युक्त प्रकारसे समग्ररूप परब्रह्म परमात्माके तत्त्वको समझकर उसकी श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उपासना करनेसे मनुष्य बहुत शीघ्र अविद्या और जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिसे सदाके लिये मुक्त होकर उस परमात्माको प्राप्त हो सकता है।

इस घोर कलिकालमें परमात्माको प्राप्त करनेके लिये उसकी भक्ति ही सर्वोत्तम और सुगम उपाय है। जब वे परमात्मा सगुण-साकारस्वरूपमें अवतार लेते हैं, तब मूढ़ पुरुष उन्हें नहीं जान पाते; क्योंकि वे मायाके परदेमें छिपे रहते हैं (गीता ७। २५)। जो पुरुष परमात्माकी शरण होकर उनकी भक्ति करता है, उसके सामनेसे परमात्मा अपनी मायाका परदा हटा लेते हैं, जिससे उस पुरुषको उनके साक्षात् चिन्मय दिव्य सगुण-साकार रूपका प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उनकी भक्ति करनी चाहिये।

भक्तिका अनुष्ठान करनेवालोंके लिये एक बहुत ही सरल और महत्त्वपूर्ण साधन यह है। भगवत्-सम्बन्धी पदार्थोंमें चार मुख्य हैं—भगवान्‌के दिव्य नाम, रूप, लीला और धाम। इनके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्य—इन चारोंको विशेषरूपसे समझना चाहिये तथा गुणका भी प्रभाव, तत्त्व और रहस्य समझना चाहिये एवं प्रभावका भी तत्त्व, रहस्य समझना चाहिये और इस मानव-देहमें प्राप्त कान, नेत्र, मन और वाणी—इन चार द्वारोंसे उपर्युक्त पदार्थोंका सेवन करना चाहिये। यद्यपि अन्तःकरण और इन्द्रियाँ आदि प्रायः सभी द्वारोंसे परमात्माकी उपासना हो सकती है; परंतु उनमें ये चार द्वार मुख्य हैं।

अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त पदार्थोंको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक कानोंके द्वारा भक्तोंसे श्रवण करना, नेत्रोंके द्वारा सत्शास्त्रोंमें पढ़ना, फिर मनसे मनन करना और तदनन्तर वाणीके द्वारा कथन करना चाहिये। इस प्रकार श्रद्धा-प्रेमपूर्वक इनका सेवन करनेसे सेवन करनेवाले मनुष्यको परमात्माका साक्षात् दर्शन होकर परम आनन्द, असीम समता और परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

अब इन उपर्युक्त पदार्थोंको भलीभाँति समझनेके लिये कुछ विस्तारसे विवेचन किया जाता है।

भगवन्नामका गुण

क्षमा, दया, शान्ति, प्रेम आदि जो परमात्माके दिव्य गुण हैं, वे ही सब नामके अंदर भी हैं; क्योंकि नामके जप, कीर्तन, श्रवण और स्मरण करनेसे उपासकमें नामीके दिव्य गुण स्वाभाविक ही आ जाते हैं। नामकी गुण-गरिमा क्या कही जाय! श्रीतुलसीदासजीने नाम-महिमा बतलाते हुए कहा है—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

(रा० च० मा०, बाल० २५।४)

भगवन्नामका प्रभाव

नामका जप, कीर्तन, श्रवण और स्मरण करनेसे पूर्वकृत समस्त सञ्चित पापोंका; अज्ञानमूलक अहंता-ममता, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि दुर्गुणोंका; झूठ, कपट, हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्यपान, द्यूत आदि दुराचारोंका तथा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुखोंका आत्यन्तिक अभाव होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥

(रा० च० मा०, बाल० २५। ३-४)

तथा—

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

(रा० च० मा०, बाल० २१)

किसी कविने कहा है—

जब ही नाम हिरदै धर्‌यौ भयो पापको नास।
मानौ चिनगी अग्निकी परी पुराने घास॥

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥

(६। २। १८)

'जिस प्रकार अग्नि ईंधनको जला देता है, उसी प्रकार उत्तमश्लोक श्रीहरिके नामका कीर्तन जानकर किया जाय अथवा बिना जाने, पुरुषके सम्पूर्ण पापोंको भस्म कर डालता है।'

श्रीचैतन्यमहाप्रभुने कहा है—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।

(शिक्षाष्टक)

'भगवान्‌ने अपने अनेकों नाम प्रकाशित किये और उनमें अपनी

सम्पूर्ण शक्ति अर्पित कर दी तथा उसके स्मरणमें कालका नियम नहीं बनाया अर्थात् भगवान्‌के नामका स्मरण मनुष्य सभी समय कर सकता है, इसमें कोई रुकावट नहीं है।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(९।३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

भगवन्नामका तत्त्व

नाम नामीसे अभिन्न है अर्थात् नाम और नामीमें कोई भेद नहीं है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—**'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'** (१०-२५) अर्थात् 'अन्य समस्त यज्ञ तो मेरी प्राप्तिके साधन हैं, पर जपयज्ञ तो स्वयं मैं ही हूँ।' वस्तुतः परमात्मा ही स्वयं नामके रूपमें प्रकट होते हैं। परमात्माका स्वरूप, परमात्मविषयक ज्ञान और परमात्माका नाम—ये एक ही वस्तु हैं; इसलिये नाम-जप करनेमें नामीकी स्मृति स्वतः ही हो जाती है। इस प्रकार समझना परमात्माके नामका तत्त्व समझना है।

कठोपनिषद्में कहा है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

(१।२।१६)

'यह ॐकार अक्षर ही सगुण ब्रह्म है, यह अक्षर ही निर्गुण परब्रह्म है, इस ॐकाररूप अक्षरको ही जानकर जो मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है उसको वही मिल जाती है।'

भगवन्नामका रहस्य

वाणीके द्वारा नाम जपनेकी अपेक्षा मनसे जपना सौगुना अधिक फल देनेवाला है। वह मानसिक जप भी श्रद्धा-प्रेमसे किया जाय तो उसका अनन्त फल है तथा वही गुप्त और निष्कामभावसे किया जाय तो शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है।

श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

(रा० च० मा०, अरण्य० १६)

सादर सुमिरन जे नर करहीं।
भव बारिधि गोपद इव तरहीं॥

(रा० च० मा०, बाल० ११८।२)

जो नामके रहस्यको समझता है, वह पुरुष नामकी ओटमें कभी पाप या दम्भ नहीं करता। भाव यह है कि नामसे पापोंका नाश होता ही है—ऐसा समझकर पापाचरण करना तथा लोगोंको दिखलानेके लिये नाम-जपका बहाना करना और भीतर-ही-भीतर छिपकर पाप करना—नामकी ओटमें पाप और दम्भ करना है। नामके रहस्यको

जाननेवाला पुरुष इन दोषोंसे रहित होता है।

भगवत्स्वरूपका गुण

भगवान्‌का रंग, रूप, आकृति और लावण्य बहुत ही मधुर, कोमल, रसमय, परम आकर्षक, कान्तिमय, चमकीला, अलौकिक, सुन्दर और अद्भुत है, उनमें निरतिशय, असीम और अत्यन्त विलक्षण क्षमा, दया, शान्ति, प्रेम, न्याय, सौहार्द, सरलता, मधुरता, समता, उदारता, धीरता, वीरता, गम्भीरता, सत्यता, निरभिमानिता, निरहंकारिता, निर्वैरता, निर्भयता, पवित्रता, भक्तवत्सलता, सौम्यभाव आदि अनन्त दिव्य गुण हैं। यह भगवान्‌के गुणोंका दिग्दर्शन है।

भगवत्स्वरूपका प्रभाव

सम्पूर्ण बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति, सामर्थ्य, ज्ञान, वैराग्य, धर्म, यश, श्री, विभूति, महिमा, कान्ति, जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेकी सामर्थ्य, सर्वज्ञता, सर्वाधारता, सर्वव्यापकता, सर्वनियन्तृता, सर्वेश्वरता, सर्वान्तर्यामिता तथा सम्भवको असम्भव और असम्भवको भी सम्भव कर देनेकी सामर्थ्य आदि—ये अपरिमित प्रभाव हैं। जैसे सूर्योदयसे समस्त अन्धकारका अत्यन्त अभाव हो जाता है, इसी प्रकार परमात्माके स्वरूपके स्मरण और ध्यानसे समस्त दुर्गुण-दुराचार, विकार और दुःख-दोषोंका सर्वथा अभाव हो जाता है तथा मनुष्य सद्गुण, सदाचारसम्पन्न होकर, जन्म-मृत्युरूप संसारसमुद्रसे तरकर सहज और शीघ्र ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८।१४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(१२।७)

'हे अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

भगवत्स्वरूपका तत्त्व

जिस प्रकार आकाशमें परमाणु, भाप, कुहरा, बादल, बूँदें, ओले और बर्फ आदि सब तत्त्वतः एक जल ही हैं, इसी प्रकार सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम, सत्-असत्, स्थूल-सूक्ष्म, कार्य-कारण आदि जो कुछ भी है और जो इससे परे है, सब तत्त्वतः एक परमात्मा ही है।

श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७।१९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(११।१३।२४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे अथवा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। मुझसे पृथक् और कुछ भी नहीं है—ऐसा निश्चयपूर्वक समझो।'

भगवत्स्वरूपका रहस्य

वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वत्र समभावसे स्थित सगुण-निर्गुणरूप परमात्मा ही दिव्य अवतार धारण करके स्वयं प्रकट होते हैं तथा उनके दिव्य गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य आदि इतने अचिन्त्य, असीम और दिव्य हैं कि उनके अपने सिवा उन्हें अन्य कोई जान ही नहीं सकता। यह उनका रहस्य है।

गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(४।६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

तथा अर्जुन कहते हैं—

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥
स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।

(गीता १०।१४, १५ का पूर्वार्ध)

'हे केशव! जो कुछ भी मेरे प्रति आप कहते हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके लीलामय स्वरूपको न तो दानव जानते हैं और न देवता ही। हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपनेसे

अपनेको जानते हैं।'

श्रीरामचरितमानसमें भगवान्‌के स्वरूपका रहस्य प्रकट करते हुए कहा है—

अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कृपाला॥
छन महि सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ५। ३-४)

तथा जो पुरुष परमात्माके स्वरूपका स्मरण करता है, वह उनको अत्यन्त प्रिय है। यह भी रहस्यकी बात है।

भगवान्‌की लीलाके गुण-प्रभाव-तत्त्व-रहस्य

रामावतारकी कथा है। जिस समय विभीषण भगवान् श्रीरामकी शरणमें आये हैं, उस समय भगवान्‌ने सुग्रीवसे पूछा कि इसमें तुम्हारी क्या राय है। सुग्रीवने कहा—'भगवन्! राक्षसोंकी माया जानी नहीं जाती, न मालूम भेद लेने आया है या किस कारणसे आया है। राक्षस मौका पड़नेपर धोखा देकर घात कर सकता है। इसलिये मेरी रायमें तो इसे कैद कर लेना उचित है।' इसपर भगवान्‌ने कहा—'मित्र! तुमने जो बात कही सो तो बहुत ही अच्छी बात है; किंतु दुष्टहृदय पुरुष मेरे सम्मुख नहीं आ सकता और यदि यह हमारा भेद लेनेके लिये आया है तो भी कोई भय नहीं है; क्योंकि जगत्‌में जितने भी राक्षस हैं, उन्हें लक्ष्मण क्षणभरमें मार सकता है तथा यदि यह भयसे त्रस्त होकर शरणमें आया है तो मेरा यह नियम है कि—

मम पन सरनागत भय हारी।

(रा० च० मा०, सुन्दर० ४२। ४)

वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(युद्ध० १८।३३)

'जो मनुष्य एक बार भी मेरी शरण होकर 'मैं आपका ही हूँ'—इस प्रकार कहकर मुझसे अभयकी याचना करता है, उसको मैं सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंसे अभय दे देता हूँ—यह मेरा व्रत है।'

इसपर हनुमान्‌जी आदि विभीषणको भगवान्‌के निकट लिवा लाये। आते ही विभीषणने भगवान्‌के चरणप्रान्तमें गिरकर भगवान्‌की शरण ग्रहण की। भगवान्‌ने उनको अपने हृदयसे लगा लिया और उसी समय समुद्रका जल मँगवाकर उनको लङ्काके लिये राजतिलक कर दिया।

यहाँ विभीषणके विषयमें सुग्रीवसे सम्मति पूछना और उनके कथनको उचित बतलाना—यह भगवान्‌की नीति और प्रेम है। शरणमें आये हुएका त्याग न करना—यह शरणागतवत्सलता है और विभीषणको लङ्काका राजतिलक कर देना—यह नीति और उदारता है। यह सब भगवान्‌की लीलामें गुणोंका दिग्दर्शन है।

कोई भी दुष्टहृदय मनुष्य भगवान्‌के सम्मुख नहीं आ सकता—यह भगवान्‌की लीलाका प्रभाव है। तथा लक्ष्मण क्षणभरमें समस्त निशाचरोंको मार सकता है—वह लक्ष्मणका प्रभाव भी भगवान्‌की कृपासे ही होनेके कारण भगवान्‌का ही प्रभाव है।

पूर्णब्रह्म परमात्मा ही स्वयं श्रीरामके रूपमें प्रकट हुए हैं। इस प्रकार भगवान्‌की भगवत्ताको समझना ही भगवान्‌की लीलाका तत्त्व समझना है।

भगवान् विभीषणको अभय दान देना चाहते थे। पर भगवान्‌ने

इसे गुप्त रखकर सुग्रीव आदिसे उसके लिये राय पूछी और उनका मान रखते हुए ही अपने उद्देश्यके अनुकूल कार्य किया। तथा भगवान्‌के सामने राक्षसोंकी माया, छल-कपट नहीं चलता—यह बात सुग्रीवादि नहीं जानते थे, इसीसे उनके सामने अपने प्रभावका रहस्योद्‌घाटन कर दिया कि—

जौं पै दुष्टहृदय सोइ होई। मोरें सनमुख आव कि सोई॥

(रा० च० मा०, सुन्दर० ४३। २)

भगवान्‌ने इसमें संकेतसे अपने छिपे हुए प्रभावको प्रकट कर दिया कि दुष्टहृदय मेरे सम्मुख नहीं आ सकता; जो सम्मुख आता है, वह समस्त दूषणोंसे रहित होता है। इस प्रकार भगवान्‌के द्वारा किये हुए रहस्योद्‌घाटनको समझ लेना ही भगवान्‌की लीलाका रहस्य समझना है।

कृष्णावतारकी कथा है। एक दिन यमुनाजीके तीरपर भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखाओं—ग्वालबालोंके साथ भोजन करते-करते बाललीला करने लगे। जब सब अपने-अपने छींके खोलकर भोजन करने लगे, तब भगवान् सबके बीचमें बैठ गये और चारों ओर सब ग्वालबाल मण्डलाकार पंक्ति बनाकर बैठ गये तथा आपसमें अपने-अपने भोजनको बढ़िया बताते हुए एक-दूसरेको हँसाने लगे। उस समय भगवान् अपने हाथमें ग्रास लिये उनको इस प्रकार हँसा रहे थे कि वे सब-के-सब उनके इस विनोदमें तन्मय हो गये। उन्हें बछड़ोंका भी ध्यान न रहा और बछड़े जंगलमें बहुत दूर निकल गये। जब बछड़ोंका ध्यान आया, तब सब भयभीत हो गये। भगवान्‌ने कहा—'भय मत करो। मैं उन्हें लौटा लाता हूँ।' ऐसा कहकर भगवान् उनकी खोज करने चले। ब्रह्माजी इस बाललीलाको देखकर मोहित हो

गये। उन्होंने पहले तो बछड़ोंको और पीछे ग्वालबालोंको भी छिपा दिया। जब भगवान्‌को बछड़े नहीं मिले और वापस आनेपर जब उन्होंने गोपबालकोंको भी नहीं देखा, तब वे झट जान गये कि यह ब्रह्माजीकी करतूत है। तब ग्वालबालों और बछड़ोंकी माताओंको आनन्दित करने तथा ब्रह्माजीका मोहनाश करनेके लिये भगवान् स्वयं वैसे-के-वैसे बछड़े और बालक बन गये। जितने बछड़े और बालक थे, जैसे उनके शरीर-हाथ-पैर थे; जैसी उनकी छड़ियाँ, सींग, बाँसुरी, पत्ते और छींके थे; जैसे उनके वस्त्र, आभूषण, शील, स्वभाव, गुण, नाम, आकृति और अवस्थाएँ थीं और जैसी उनकी क्रीडाएँ थीं; ठीक वैसे ही और उतने ही रूपोंमें भगवान् प्रकट हो गये। उस समय भगवान्‌ने 'यह सब जगत् विष्णुमय है'—यह बात प्रत्यक्ष दिखला दी।*

श्रीबलदेवजीने पहले कुछ नहीं समझा; फिर जब उन्होंने देखा कि ग्वालबालोंकी माताओंका अपने बच्चोंपर पहलेसे बहुत अधिक स्नेह बढ़ गया है और जिन्होंने दूध पीना छोड़ दिया है, उन बछड़ोंपर भी गायें बहुत अधिक स्नेह करती हैं; तब उन्हें संदेह हुआ और उन्होंने पहचाननेकी दृष्टिसे सबकी ओर देखा। उस समय उन्हें सभी बछड़े, उनके रक्षक गोपबालक, उनकी सम्पूर्ण सामग्रियाँ प्रत्यक्ष श्रीकृष्णरूप दीख पड़ीं और वे चकित हो गये।

---

* यावद् वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्करांघ्र्यादिकं
यावद् यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद्विभूषाम्बरम्।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद् विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। १९)

इस लीलामें ब्रह्माजीके कालमानसे केवल एक त्रुटि समय बीता था। जब उन्होंने देखा, तब वे यह नहीं समझ सके कि इन दोनोंमें कौन-से ग्वालबाल और बछड़े असली हैं तथा कौन-से पीछेसे बनाये हुए हैं। वे इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि उन्हें वे सब ग्वालबाल और बछड़े श्रीकृष्णके रूपमें दिखायी देने लगे। वे भगवान्‌की भगवत्ताको जान गये और तुरंत भगवान्‌के चरणोंमें पृथ्वीपर दण्डकी भाँति गिर पड़े तथा गद्‌गद वाणीसे स्तुति करते हुए क्षमा माँगने लगे। तब भगवान्‌ने अपनी माया समेट ली।

बालकोंके साथ इस प्रकार प्रेमभोज करते हुए बालक्रीड़ा करना प्रेमकी बात है। भगवान्‌ने स्वयं ग्वालबाल और बछड़े बनकर उनकी माताओं और गायोंके साथ मातृभावसे बर्ताव किया, इसमें उनकी दया और प्रेम भरा है। ब्रह्माजीको लीलाका चमत्कार दिखलाकर उनके मोहका नाश करना—यह भी भगवान्‌की दया है। यह सब भगवान्‌की लीलामें गुणोंका दिग्दर्शन है।

भगवान्‌ने अपनी अद्भुत दिव्य शक्तिसे अनेक रूप धारण कर लिये—यह उनकी लीलामें प्रभावका दिग्दर्शन है।

ग्वालबाल, बछड़े, उनकी छड़ी, बाँसुरी आदि सब वस्तुतः भगवान् ही बने थे; भगवान्‌ने ही अनेक रूप बनाकर लीला की—यह भगवान्‌की लीलामें तत्त्वका दिग्दर्शन है।

माताओं और गायोंकी जो भगवान्‌में वात्सल्य-भावकी इच्छा थी, उसकी इस प्रकार गुप्तरूपमें पूर्ति करना—यह लीलामें रहस्यका दिग्दर्शन है।

भगवान्‌की प्रत्येक चेष्टा पद-पदपर मङ्गलमय गुणोंसे ओतप्रोत है। इसलिये भगवान्‌की प्रत्येक क्रियामें क्षमा, दया, प्रेम, समता आदि

उनके अचिन्त्य-अनन्त गुणोंको देखना ही लीलामें गुणोंका देखना है।

भगवान्‌की लीलाओंमें इस प्रकार गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझते हुए उन्हें आदर्श मानकर उनका दर्शन, चिन्तन, स्मरण और अनुकरण करनेसे अर्थात् भगवान्‌के व्यवहारके अनुकूल अपना आचरण बनानेसे अन्तःकरण पवित्र होकर मनुष्य मुक्त हो जाता है। यह समझना भगवान्‌की लीलाका प्रभाव समझना है।

जिस प्रकार गोपबालक, बछड़े, उनकी लकुटी, सींग, बाँसुरी और उनकी क्रीड़ा आदि सब भगवान् ही थे, उसी प्रकार विश्वमें कर्ता, कर्म, क्रिया आदि जो कुछ भी है, सब तत्त्वतः भगवान् ही हैं—यह समझना लीलाका तत्त्व समझना है।

भगवान्‌की समस्त चेष्टाएँ स्वार्थ और अहंकाररहित होनेके कारण परम पवित्र और कार्यकारिणी होती हैं अर्थात् भगवान् किसीको भी निमित्त बनाकर जो भी चेष्टा करते हैं, वह उसके कल्याणके लिये ही करते हैं; एवं उनकी सम्पूर्ण क्रियाएँ अत्यन्त विशुद्ध होती हैं। यह समझना लीलाका रहस्य समझना है।

भगवद्धामका स्वरूप

धामसे उस परमधामको समझना चाहिये, जो भगवान्‌का चिन्मय, नित्य दिव्यलोक है; जो सर्वोपरि, सबसे श्रेष्ठ, नित्य सत्य है; जिसको ब्रह्मके उपासक ब्रह्मलोक, वेदवेत्ता सत्यलोक, श्रीकृष्णके उपासक गोलोक, श्रीरामके उपासक साकेतलोक, श्रीविष्णुके उपासक वैकुण्ठलोक, श्रीशिवके उपासक शिवलोक मानते हैं—इस प्रकार जिसको विभिन्न उपासकगण अनेक नामोंसे कहते हैं तथा जिसको वे सभी सर्वोपरि, सर्वश्रेष्ठ और परम दिव्य मानते हैं; परंतु वहाँ बुद्धि, मन, वाणीकी पहुँच नहीं है, उसके विषयमें जो कुछ कहा जाता है, उससे वह अत्यन्त ही विलक्षण है।

भगवद्धामका गुण

क्षमा, दया, शान्ति, समता, प्रेम, न्याय आदि जो भगवान्‌के नित्य गुण हैं, वे उस धाममें स्वाभाविक ही हैं। क्योंकि भगवान् ही स्वयं धामके रूपमें प्रादुर्भूत हुए हैं। इसलिये उस धाममें निवास करनेवाले भक्तोंमें भी वे गुण स्वाभाविक रहते हैं। जिन प्रेमी भक्तोंको भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हो जाते हैं, वे उस परमधामको जाते हैं तथा भगवान्‌के दर्शनके प्रभावसे उपर्युक्त गुण उनमें स्वाभाविक ही आ जाते हैं और जो साधक भजन, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि साधनोंके द्वारा भगवान्‌के धाममें जाते हैं, उनमें उपर्युक्त प्रायः सभी गुण पहलेसे ही आ जाते हैं, किंतु यदि किसीमें कुछ कमी होती है तो उस गुणकी पूर्ति वहाँ प्रवेश होनेके साथ उसी क्षण हो जाती है। यह सब भगवद्धामके गुणोंका दिग्दर्शन है।

भगवद्धामका प्रभाव

भगवद्धामका ऐसा प्रभाव है कि जो उस परमधाममें पहुँच जाता है, वह लौटकर नहीं आता। यदि संसारके कल्याणके लिये भगवान्‌के साथ भगवान्‌का परिकर होकर या भगवान्‌की आज्ञासे अधिकार लेकर कारक पुरुषके रूपमें आता है, तो उसके जन्म, कर्म और शरीर निर्दोष, विशुद्ध और दिव्य होनेके कारण उसका आना भी न आनेके समान ही है। क्योंकि वह संसारकी माया और मायाके कार्यसे कभी किसी प्रकार लिप्त नहीं होता तथा उसका देह अनामय होता है। उस लोकमें जो रहते हैं, उनके शरीर जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि आदि दोषों तथा समस्त विकारोंसे रहित और परम पवित्र होकर भगवान्‌की भाँति ही दिव्य, चिन्मय, अलौकिक और सम्पूर्ण सद्गुणोंसे युक्त हो जाते हैं एवं उनमें सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और पालनके अतिरिक्त भगवान्‌के अन्य सभी

प्रभाव और ऐश्वर्य आदि आ जाते हैं। उस धाममें जितने भी पदार्थ होते हैं, वे सब दिव्य, चिन्मय और अलौकिक होते हैं। यह सब भगवद्धामके प्रभावका दिग्दर्शन है।

भगवद्धामका तत्त्व

भगवान् ही स्वयं धामके रूपमें प्रादुर्भूत होते हैं। इसलिये धाम साक्षात् भगवान्‌का ही स्वरूप है। निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही सगुण निराकारके रूपमें होकर फिर परमधामके स्वरूपमें प्रकट होते हैं। इसलिये धाम परमात्माका स्वरूप होनेके कारण उनसे अभिन्न है। यह जानना ही धामका तत्त्व जानना है।

भगवद्धामका रहस्य

भगवान् और भगवान्‌के धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व तथा लीलाकी गोपनीय दिव्य रहस्यमयी बातें जो यहाँ समझमें नहीं आतीं, वे वहाँ उस परमधाममें जानेपर ज्यों-की-त्यों यथार्थरूपसे जाननेमें आ जाती हैं। अर्थात् वहाँ जाते ही उसे भगवान् और भगवान्‌का धाम वस्तुतः क्या चीज है—इसका तात्त्विक रहस्य एकदम प्रत्यक्ष हो जाता है। वहाँ न जानी हुई जानी जाती है, न अनुभव की हुई अनुभव की जाती है और न देखी हुई देखी जाती है, न सुनी हुई सुनी जाती है, न समझी हुई समझी जाती है; क्योंकि वहाँ पहुँचनेपर बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि सभी दिव्य हो जाते हैं। यहाँ भगवान् और उनके धामके विषयकी जो बातें सुनी-समझी जाती हैं, उससे वह अत्यन्त निराला—विलक्षण है; क्योंकि लौकिक बुद्धि, मन, वाणीकी वहाँ पहुँच ही नहीं है। वहाँ जानेपर इन सबका सम्पूर्ण भेद—रहस्य खुल जाता है और फिर इस विषयकी कोई भी शङ्का नहीं रह जाती। यह समझना धामका रहस्य समझना है।

इस लोकमें भगवान्‌ने जहाँ अवतार लेकर लीला की है, ऐसे अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन आदि भी भगवान्‌के परमधाम माने गये हैं; क्योंकि इन धामोंमें श्रद्धा-प्रेमपूर्वक वास करनेसे वास करनेवालेमें भगवान्‌के गुण आ जाते हैं तथा उनका तत्त्व-रहस्य समझनेसे मनुष्योंमें श्रद्धा-प्रेम और भक्तिका आविर्भाव हो जाता है एवं उन स्थानोंमें मरनेपर उनके प्रभावसे मनुष्य सब पापोंसे रहित होकर मुक्त हो जाता है।

अब भगवान्‌के गुणोंका प्रभाव, तत्त्व, रहस्य तथा प्रभावका तत्त्व-रहस्य किस प्रकार समझना चाहिये, यह बतलाया जाता है।

भगवद्‌गुणोंका प्रभाव

भगवान्‌के क्षमा, दया, प्रेम आदि दिव्य गुणोंके श्रवण, मनन, चिन्तन, वर्णन, गायन आदि करनेसे मनुष्यमें उन सम्पूर्ण गुणोंका आविर्भाव हो जाता है तथा वह समस्त दोषोंसे रहित होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है। यह गुणोंका प्रभाव है।

भगवद्‌गुणोंका तत्त्व

भगवान्‌के सम्पूर्ण गुण दिव्य और चिन्मय हैं तथा भगवान्‌से अभिन्न हैं। वहाँ गुण और गुणीका भेद नहीं है। यह जानना ही भगवान्‌के गुणोंका तत्त्व जानना है।

भगवद्‌गुणोंका रहस्य

भगवान्‌के दया, प्रेम आदि गुणोंमें यह रहस्य देखना चाहिये कि भगवान्‌के दया और प्रेम आदि गुण हेतुरहित और विशुद्ध होते हैं; उनमें कायरता, ममता, कामना, लज्जा, स्वार्थ और भय आदि दोष नहीं होते। इसी प्रकार उनके सभी गुण हेतुरहित, अनन्त, दिव्य और विशुद्ध होते हैं। गुणोंके इस रहस्यको जो समझ जाता है, वह फिर उन

परमात्माकी ही शरणमें चला जाता है। उन्हींसे अनन्य प्रेम करता है तथा उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। विभीषण भी भगवान्‌की दया और प्रेम आदिके यशको सुनकर उनका रहस्य समझकर ही उनकी शरणमें गये थे। उन्होंने स्वयं यह बात कही है—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

(रा० च० मा०, सुन्दर० ४५)

एवं उपर्युक्त गुणोंके रहस्यको समझनेवाला फिर स्वयं वैसा ही बन जाता है। भगवान्‌ने गीतामें भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए कहा है कि उनमें दया, प्रेम, क्षमा, निर्ममता, निरहंकारिता, समता आदि गुण स्वाभाविक ही आ जाते हैं (२।१३)।

संसारमें यावन्मात्र प्राणियोंमें जितने भी गुण दीख रहे हैं, वे उन गुणसागर परमात्माके दिव्य गुणोंके एक अंशकी ही झलक हैं। इस प्रकार समझना गुणोंके रहस्यको समझना है।

भगवत्प्रभावका तत्त्व

जो भी भगवान्‌का बल, ऐश्वर्य, शक्ति आदि प्रभाव है, वह भगवान्‌से अभिन्न है। जैसे अग्निका प्रकाशन और दहन आदि प्रभाव अग्निसे अभिन्न है, इसी प्रकार भगवान्‌का प्रभाव भगवान्‌से अभिन्न है। यह जानना ही भगवान्‌के प्रभावका तत्त्व जानना है।

भगवत्प्रभावका रहस्य

अग्नि, सूर्य और चन्द्रमामें जो तेज है तथा संसारमें जो कुछ भी विभूतियुक्त, तेजयुक्त, कान्तियुक्त पदार्थ है, वह सब-का-सब भगवान्‌के प्रभावके एक अंशका प्राकट्य है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥

(१५ । १२)

'सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है—उसको तू मेरा ही तेज जान ।'

तथा—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥

(१० । ४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान ।'

अब ऊपर बताये हुए पदार्थोंके सेवनकी विधिपर विचार करते हैं ।

भगवान्के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी अमृतमयी कथाओंका श्रद्धा[1] प्रेम[2] और निष्कामभाव[3]-पूर्वक भगवान्के प्रेमी भक्तोंके द्वारा श्रवण करना और श्रवण करके वीणाके

---

१. ईश्वर, महात्मा, शास्त्र और परलोकमें भक्तिपूर्वक प्रत्यक्षकी भाँति विश्वासका नाम 'श्रद्धा' है । श्रद्धेयमें जब श्रद्धा हो जाती है, तब वह उसके संकेत, मन और आज्ञाके अनुसार ही चलता है । उसीमें उसे महान् शान्ति तथा आनन्द मिलते हैं एवं उनका पालन न करना तो उसके द्वारा बन ही नहीं सकता, किंतु यदि किसी कारणवश आज्ञापालन न हो तो उसके लिये वह मृत्युके तुल्य है ।

२. अपने प्रेमास्पदकी कभी विस्मृति न हो और उसके वियोगमें जलके वियोगमें मछलीकी तरह तड़पने लग जाना 'प्रेम' है ।

३. अहंता, ममता, आसक्तिका सर्वथा अभाव होकर किसी भी प्रकारकी तृष्णा, इच्छा, स्पृहा, वासना, कामना आदिका न रहना 'निष्कामभाव' है ।

सुननेसे जैसे हरिण मुग्ध हो जाता है, वैसे ही प्रेममें मुग्ध हो जाना एवं रोमाञ्च, अश्रुपात, कण्ठावरोध और हृदयकी प्रफुल्लताका होना—यह कानोंके द्वारा उपर्युक्त पदार्थोंका सेवन करना है। इसलिये ज्ञानी भक्तोंके पास जाकर, उनको साष्टाङ्ग प्रणाम, सेवा-शुश्रूषा और निष्कपटभावसे प्रश्न करके उनसे भगवान्‌की उपर्युक्त बातें सुननी चाहिये।

नेत्रोंके द्वारा गीता, रामायण, भागवत आदि सत्-शास्त्रोंमें लिखी हुई भगवान्‌की नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी अमृतमयी बातोंका अर्थ, भाव और विवेचनपूर्वक श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावसे स्वाध्याय करना; सारे संसारको भगवत्स्वरूप देखना; भगवान्‌के स्वरूप, चित्र, मूर्ति और लीला आदिको चकोरकी भाँति एकटक देखना तथा माता-पिता, स्वामी-सुहृद्, आचार्य, अतिथि, ज्ञानी, महात्मा, भगवद्भक्त आदि पुरुषोंको भगवत्स्वरूप समझकर उनके दर्शन करना एवं ऐसा करते हुए रोमाञ्च, अश्रुपात, कण्ठावरोध और हृदयकी प्रफुल्लता होकर प्रेममें मुग्ध हो जाना—यह नेत्रोंके द्वारा उपर्युक्त पदार्थोंका सेवन करना है।

सुनी, पढ़ी और समझी हुई भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी अमृतमयी कथाओंका एकान्त और पवित्र स्थानमें सुखपूर्वक स्थिर आसनपर बैठकर श्रद्धा-प्रेम और निष्काम भावपूर्वक विवेक-वैराग्ययुक्त* चित्तसे मनन करना तथा दिव्य

---

* सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तुके विवेचनका नाम 'विवेक' है। विवेक होनेपर मनुष्य प्रत्येक अवस्था और वस्तुमें प्रतिक्षण आत्मा और अनात्माका विश्लेषण करते हुए परमात्माके तत्त्वका बार-बार मनन करता है।

वैराग्यकी व्याख्या महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमें इस प्रकार की है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। (१।१५)

स्तोत्र और पदोंके द्वारा मनसे भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना, पूजा-नमस्कार आदि करना; चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सभी काम करते हुए सब समय उपर्युक्त बातोंका मनन करना; सोनेके समय उपर्युक्त भावोंसे भावित होकर उनका मनन करते रहना और मनसे सबको भगवान्‌का स्वरूप समझते हुए भगवच्चिन्तन करना तथा इस प्रकार करते हुए देहकी भी सुधि भुलाकर तन्मय हो जाना एवं रोमाञ्च, अश्रुपात, कण्ठावरोध, हृदयकी प्रफुल्लता तथा मुग्धता हो जाना—यह मनके द्वारा उपर्युक्त पदार्थोंका सेवन करना है।

भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी अमृतमयी बातोंको श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे स्वयं मधुर वाणीसे कीर्तन करना; कथा-व्याख्यानादिद्वारा दूसरोंको सुनाना; दिव्य स्तोत्र और पदोंके द्वारा भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना करना और सबमें भगवद्भाव रखकर सबके साथ हितपूर्ण सत्य, प्रिय, मधुर, कोमल वाणीसे वार्तालाप करना एवं इस प्रकार करते-करते रोमाञ्च, अश्रुपात, कण्ठावरोध, हृदयकी प्रफुल्लता होकर प्रेममें मुग्ध हो जाना—यह वाणीके द्वारा उपर्युक्त पदार्थोंका सेवन करना है।

उपर्युक्त प्रकारसे साधन करनेपर साधकको अपने इष्टदेवका जिस रूपमें वह दर्शन करना चाहता है, उसी रूपमें साक्षात् दर्शन हो जाता है। उस समय उसकी विलक्षण अवस्था हो जाती है; वह प्रेम, आनन्द और आश्चर्यमें मुग्ध हो जाता है; उसे भगवान्‌के सिवा अपने-आपका भी ज्ञान नहीं रहता; वह भगवान्‌को ही एकटक देखने

'स्त्री, धन, भवन, मान, बड़ाई आदि इस लोकके और स्वर्गादि परलोकके सम्पूर्ण विषयोंमें तृष्णारहित हुए चित्तकी जो वशीकार-अवस्था होती है, उसका नाम 'वैराग्य' है।'

'भगवन्! जिनके स्मरणमात्रसे तत्काल ही मनुष्योंके घर पवित्र हो जाते हैं, उन्हीं आपके दर्शन, स्पर्श, पादप्रक्षालन और आसनादिका सुअवसर मिलनेपर तो कहना ही क्या है? हे महायोगिन्! आपकी सन्निधिसे पुरुषोंके भारी-से-भारी पाप भी इस प्रकार तुरंत नष्ट हो जाते हैं, जैसे विष्णुभगवान्‌के सामने दैत्यलोग नहीं ठहरते।'

ऐसे महापुरुष जहाँ विचरते हैं, वह स्थान तीर्थ हो जाता है और वहाँका वायुमण्डल पवित्र हो जाता है। श्रीनारदजीने कहा है—

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि।

(नारदभक्तिसूत्र ६९)

'वे अपने प्रभावसे तीर्थोंको सुतीर्थ बनाते हैं, कर्मोंको सुकर्म बनाते हैं और शास्त्रोंको सत्-शास्त्र बना देते हैं।' अर्थात् वे जहाँ रहते हैं, वही स्थान तीर्थ बन जाता है या उनके रहनेसे तीर्थका तीर्थत्व स्थायी और उज्ज्वल बन जाता है। वे जो कर्म करते हैं, वे ही सुकर्म बन जाते हैं, उनकी वाणी ही शास्त्र है और वे जिस शास्त्रको महत्त्व देकर अपनाते हैं, वही सत्-शास्त्र समझा जाता है।

तथा—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिं-
ल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

(स्कन्द० मा० कौ० खं० ५५। १४०)

'जिसका चित्त इस अपार ज्ञानस्वरूप सुखसागर परब्रह्ममें लीन है, उससे कुल पवित्र, माता कृतार्थ और पृथ्वी पुण्यवती हो जाती है।'

श्रीतुलसीदासजीने तो यहाँतक कह दिया है कि—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥

(रा० च० मा०, उत्तर ११९।८-९)

अतएव मनुष्यको उचित है कि ऐसी स्थिति प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌के उपर्युक्त नाम, रूप, लीला, धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका कान, नेत्र, मन और वाणीद्वारा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे तत्परताके साथ नित्य-निरन्तर सेवन करे।

——::×::——

पतन या उत्थानमें मनुष्य स्वतन्त्र है

मनुष्य सम्पूर्ण सांसारिक दुःखों और दोषोंसे सदाके लिये सर्वथा सम्बन्धरहित होकर परमानन्द और परमशान्तिस्वरूप नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाय—इसके लिये गीतादि शास्त्रोंमें बहुत-से साधन बताये गये हैं और भी कहा गया है कि उस परम पदस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति सुगम होनेके कारण शीघ्र हो सकती है। यह बात विवेक-विचारसे समझमें आती है। किंतु फिर भी कार्यरूपमें न आनेके कारण कठिनता प्रतीत होती है, जिससे निराशा-सी हो जाती है और साधनकी गति तीव्र, संतोषजनक और निरन्तर एक-सी नहीं रहती। इसका कारण क्या है ? और उपाय क्या है ?—इस प्रकार बहुत-से साधक प्रश्न किया करते हैं। इसका उत्तर यह है कि शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंके तत्त्व-रहस्यको वास्तवमें यथार्थ न समझनेके कारण साध्य और साधनपर श्रद्धा-विश्वास पूर्णतया नहीं होता। इस श्रद्धा-विश्वासकी कमीके कारण ही साधनपर रुचि कम हो जाती है। इसीसे निराशा-सी उत्पन्न होकर साधनके लिये निरन्तर तत्परता नहीं रहती।

इसके लिये साधकको प्रथम तो साध्य वस्तुके तत्त्व-रहस्यको सत्सङ्ग और सत्-शास्त्रोंके द्वारा विवेकपूर्वक अच्छी तरह समझकर धारण करना चाहिये और दूसरे यह समझना चाहिये कि उस परमात्मासे बढ़कर अन्य कुछ भी साध्य वस्तु नहीं है। उसकी प्राप्ति हुए बिना इस दुःख-सागरसे जीवका छुटकारा नहीं हो सकता और संसारसे छुटकारा हुए बिना जीवको नित्य परमशान्ति मिल ही नहीं सकती। इसलिये उस साध्यस्वरूप

परमात्माको लक्ष्य बनाकर शास्त्रनिर्दिष्ट मार्गोंमेंसे किसी एक मार्गके अनुसार सावधानी और तत्परतापूर्वक चलना चाहिये। तभी मनुष्य उस प्रापणीय महान् तत्त्वरूप परमात्माको प्राप्त कर सकता है।

मान लीजिये, एक व्यक्ति कलकत्तेसे काशी जाना चाहता है और वहाँतककी सड़क साफ है तथा साधन भी मोटरगाड़ीका उसके पास है। मोटरके अगले भागमें दो बिजलीकी लाइट भी लगी हुई है, जो दो फर्लांगतक बराबर आगे-से-आगे रास्ता दिखाती रहती है। किंतु घोर अन्धकारमयी रात्रिका समय है और सड़कके अगल-बगल दोनों ओर गड्ढे और जंगल हैं तथा वह स्वयं ही मोटर-चालक है। अतः वह सावधानीके साथ तत्परतासे मोटरको चलाये तो शीघ्र ही गन्तव्य स्थानपर पहुँच सकता है; किंतु वह मदिरा पीकर प्रमत्त हो असावधानीसे चलाये तो मार्गके अगल-बगलके गड्ढों और जंगलमें गिरकर महान् खतरेमें पड़ जाता है।

यह एक दृष्टान्त है। इसका अभिप्राय यह समझना चाहिये कि यहाँ साधनविषयमें परमात्माका परमधाम ही काशी है। इस संसारसे निकलकर परमात्माको प्राप्त करनेका इच्छुक मनुष्य ही काशी जानेकी इच्छावाला व्यक्ति है। कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—तीनों ही निष्कण्टक, स्वच्छ और सुगम सड़क (मार्ग) हैं। मनुष्य-शरीर ही मोटरगाड़ी है। उसमें आगे-से-आगे बराबर रास्ता दिखलानेवाले विवेक और विचार ही मोटरमें लगी हुई दो लाइट हैं। अज्ञानमयी मोहमाया ही घोर अन्धकारमयी रात्रि है। दुर्गुण और दुराचार ही मार्गके दोनों ओरके गड्ढे और जंगल हैं। स्वयं साधक ही मोटरचालक है। सावधानीपूर्वक तेजीके साथ निरन्तर साधन करनेसे शीघ्र परमधामको प्राप्त होना ही सावधानीके साथ तत्परतासे सड़कपर मोटर चलानेसे

शीघ्र गन्तव्य स्थानपर पहुँच जाना है। प्रमादपूर्वक मोहमें पड़ना ही मदिरा पीकर प्रमत्त होना है और तज्जनित असावधानीके कारण दुर्गुण-दुराचारमें पड़ना ही गड्ढे और जंगलमें गिरकर महान् खतरेमें पड़ जाना है।

इसलिये साधक सदा सावधान, जागरूक और अपने साधनमें तत्पर रहे; साधनमें शिथिलता कभी भी न आने दे। सर्वप्रथम तो साधकको अपने लिये यह निर्णय करना चाहिये कि गीतादि शास्त्रोंमें निर्दिष्ट कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—इन तीनोंमेंसे मेरे लिये कौन-सा साधन (मार्ग) ठीक है। उसका निर्णय करनेका तरीका यह है कि उन तीनों मार्गोंमेंसे जो मार्ग अपनी शक्ति, बुद्धि और समझके अनुकूल हो, जिसमें अपनी श्रद्धा, विश्वास और रुचि हो, उसको अपने लिये निश्चयपूर्वक चुन लेना चाहिये; क्योंकि वही उसके लिये सबसे बढ़कर सुगम, उत्तम और लाभदायक मार्ग है। जबतक मनुष्य गन्तव्य स्थानका और मार्गका निर्णय नहीं कर लेता, तबतक वह वहाँ जा ही नहीं सकता। मार्गका निर्णय कर लेनेके पश्चात् वह उस मार्गपर चलना शुरू कर दे और मार्गपर चलते समय ऐसी सावधानी रखे कि कहीं मार्गको छोड़कर विपरीत मार्ग यानी कुमार्गरूप गड्ढेमें न चला जाय। असावधानीमें हेतु हैं—संशय, भ्रम, अज्ञान, ममता, आसक्ति, प्रमाद और आलस्य—ये ही मनुष्यको सुखका प्रलोभन देकर मोहित करते हुए पतनके गर्तमें डाल देते हैं। इसलिये इन सबका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि इनके त्यागमें मनुष्य स्वतन्त्र है।

मनुष्य जिस कर्मको बुद्धिद्वारा बुरा समझता है, उसे करना भी नहीं चाहता, फिर भी छोड़ नहीं पाता और जिस कार्यको अच्छा समझता है, उसे करना चाहता है फिर भी उसे कर नहीं पाता। इस प्रकार